।।श्रीः।।

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला
209

ईशावास्योपनिषद्

(विस्तृत भूमिका, मूल, शाङ्करभाष्य, अन्वय, हिन्दी अनुवाद, चन्द्रिका व्याख्या विशेष, व परिशिष्ट सहित)

व्याख्याकार
राकेश शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
दिल्ली-110007 (भारत)

प्रास्ताविकम्

ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय का चालीसवाँ अनुवाक है, वस्तुतः यह एकमात्र ऐसा उपनिषद् है, जो संहिता का पूर्ण रूप से आन्तरिक अङ्ग है, इसीलिए इसे 'संहितोपनिषद्' भी कहा गया है। इसके प्रथम मन्त्र में 'ईशावास्य' पद का प्रयोग होने से इसका नाम 'ईशोपनिषद्' या 'ईशावास्योपनिषद्' पड़ा। इसका महत्त्व इसी से प्रतीत होता है कि इस पर लिखे गए भाष्यों में उव्वट, आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य तथा शाङ्करभाष्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस उपनिषद् में कुल अट्ठारह मन्त्रों का प्रयोग हुआ हैं, जो शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता के सम्पूर्ण अर्थ को अपने में आत्मसात् करते हैं।

उपनिषद् वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के मन्थन के परिणाम स्वरूप निकलने वाले 'नवनीत' के समान हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार यह उपनिषद् ज्ञान तथा निष्कामकर्म विषयक दो प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करता है। इस उपनिषद् का वास्तविक उद्देश्य आत्मा के वास्तविक रूप की व्याख्या करना है, साथ ही, यह जीवात्मा एवं परमात्मा के सम्बन्धों को जानकर मोक्ष प्राप्ति का कथन भी करता है।

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थों की प्रकाशन योजना के तहत हमने ऋग्वेदादि के प्रमुख मन्त्रों के पाँच संग्रह, 'शाङ्खायन ब्राह्मण', बृहद्देवता (प्रथम अध्याय), आपस्तम्ब धर्मसूत्र के प्रकाशन के बाद 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, कठ, मुण्डक, ऐतरेय तथा श्वेताश्वत–रोपनिषद् को सुलभ कराने का सङ्कल्प लिया था, उन सभी ग्रन्थों के प्रकाशित होने पर ईश–कृपा से शाङ्कर–भाष्य के साथ प्रस्तुत शुक्ल यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् आप सुधी के कर–कमलों में है, इसका हमें अत्यधिक मनःतोष है।

प्रस्तुत उपनिषद् का मुख्य उद्देश्य विलुप्त हो रहे, वैदिक साहित्य का संरक्षण करना है। ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए भूमिका में जहाँ एक ओर वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए विवेच्य उपनिषद् से जुड़ी अनेक जिज्ञासाओं की विवेचना प्रस्तुत की है।

वहीं दूसरी ओर मूल ग्रन्थ के साथ उसका अन्वय, हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने के अनन्तर, शाङ्करभाष्यानुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या दी गयी है, जिसके अन्तर्गत विशेष बिन्दु का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ की उपयोगिता में श्रीवृद्धि की है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में उपनिषद् के मन्त्रों पर उव्वट, महीधर भाष्य, मन्त्रानुक्रमणिका, शाङ्कर भाष्य में प्रयुक्त उद्धरण सूची तथा काण्वशाखीय और माध्यन्दिन शाखीय उपनिषद् पाठ प्रस्तुत किया है, जो शोध की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी हमारी मान्यता है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध प्रकाशक चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली ने इस प्रकाशन–योजना को हाथ में लेकर, इस पवित्र–यज्ञ में आहुतियाँ देना सुनिश्चित किया, इसके लिए वे धन्यवाद व शुभाशीष के पात्र हैं।

यद्यपि शुद्धता का पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है तथापि त्रुटि होना मानव का स्वभाव है, इस बात को दृष्टिगत करते हुए आशा है, संस्कृत प्रेमी पाठक–बन्धु इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर अनुगृहीत करेंगे, जिससे उनका निवारण दूसरे संस्करण में किया जा सके। इति शुभम्।

16 जून, 2023

डॉ. राकेश शास्त्री डी.लिट्

समर्पणम्

तत्त्वज्ञानी,
चतुर्थ आश्रमी, योगाभ्यास में
अग्रणी,
समस्त वैदिक ऋषियों
को
जिन्होंने अविद्या के कारण त्रस्त
सम्पूर्ण संसार को
ब्रह्मज्ञान विषयक जटिल
मार्ग का
स्नेहिल व सरल उपदेश प्रदान
कर
उपकृत किया

सश्रद्ध

राकेश शास्त्री डी.लिट्

विषयानुक्रमणिका

•••

भूमिका

1. वैदिक साहित्य एक परिचय– अथाह ज्ञान–राशि के अक्षय भण्डार 'वेद' भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सामान्यरूप से वेदों से अभिप्राय ऋग्वेद, युजर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन्हीं चार वेदों से ग्रहण किया जाता है, किन्तु **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इत्यादि कथन के अनुसार– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को वेद–संज्ञा प्रदान की गयी है, जबकि शिक्षा, निरुक्त, कल्प, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष ये सभी छः वेदाङ्ग, वेदों को समझने में सहयोगी साहित्य के अन्तर्गत आते हैं।

वेदों को 'श्रुति' भी कहा गया है, क्योंकि प्राचीन समय में लेखन –कला के विकास के अभाव में, गुरु–शिष्य परम्परा से ही वेदों को सुरक्षित रखा गया। तदनुसार गुरु अपने शिष्यों को इनका ज्ञान कराते थे, जिसे सुनकर शिष्य हृदयङ्गम कर लेते थे तथा उन्हीं मन्त्रों की अपने शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में स्वर एवं उच्चारण सम्बन्धी दोषों का विशेषरूप से ध्यान रखा जाता था। इसके अलावा सार्थक, सुसङ्गत और श्रेष्ठ अर्थ का कथन करने के कारण, वेदों को ही 'निगम' संज्ञा भी प्रदान की गयी है।

भारतीय संस्कृति और शास्त्रों द्वारा वेदों को आप्त–प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया, यही कारण है कि इन्हें सदा ही आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसका अभिप्राय यही है कि जिन बातों को हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं जान पाते हैं, उन्हें वेदों के माध्यम से सहजरूप में जाना जा सकता है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[1] मनुस्मृतिकार के कथनानुसार वेद को सभी धर्मों का मूल स्वीकार किया गया है, यहाँ तक कि वेदों को सर्व ज्ञानमय और सभी विद्याओं का उत्पत्ति स्थान भी माना है।[2] वस्तुस्थिति तो यह है कि वेदों में दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, अध्यात्म आदि अनेकानेक विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन हुआ है, जो हमारे ऋषि–मुनियों की नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा के ही परिचायक कहे जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, विश्व की सर्वाधिक प्राचीन भारतीय–संस्कृति के तो मूलस्रोत भी वेद ही रहे हैं। इसलिए यदि हम भारतीय–संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहते हैं, तो हमें इसके लिए वेद और परवर्ती वैदिक साहित्य का ही मुखापेक्षी होना होगा। भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने तो आर्यत्व के लक्षण रूप में वेदों की प्रामाणिकता को ही प्रमुखरूप से स्वीकार किया है– **'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु।'**

कहने का अभिप्राय यही है कि– वेदों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भाषा–वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, काव्यशास्त्रीय एवं धार्मिक दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्राचीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि अनेकानेक स्थितियों का विशदरूप में विवरण उपलब्ध होता है। इसके अलावा ऋषियों की काव्य–शास्त्रीय प्रतिभा से परिचित होने के लिए भी हमें विशेषरूप से वेदों का अध्ययन ही करना होगा। इसप्रकार वैदिक साहित्य के महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए, हम यहाँ सर्वप्रथम इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

अध्ययन की दृष्टि से हम सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को मुख्यरूप से चार भागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनुस्मृति– 2/6 ।
2. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनुस्मृति–2/7 ।

(क) संहिता–ग्रन्थ **(ख)** ब्राह्मण–ग्रन्थ
(ग) आरण्यक–ग्रन्थ **(घ)** उपनिषद्–ग्रन्थ

(क) संहिता–ग्रन्थ– वेदों के मन्त्रात्मक भाग को संहिता कहा गया है। छन्दोबद्धता ही इस साहित्य की प्रमुख विशेषता है। इनमें स्वर–चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा वैदिक ऋषियों ने जैसा दर्शन[1] या अनुभव किया, उसी सबको यहाँ सङ्कलित किया गया है। संहिता–ग्रन्थों की संख्या चार रही है–

1) **ऋग्वेद संहिता–** यह सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण संहिता है, इसमें दस मण्डलों के अन्तर्गत 1028 सूक्तों में 10552 मन्त्रों को सङ्कलित किया गया है। ये सभी स्तुतिपरक मन्त्र हैं, क्योंकि **'ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्'**।

ऋचाओं के संग्रह के कारण ही इसे ऋग्वेद–संहिता कहा गया। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है,[2] किन्तु आचार्य शौनक ने इसकी केवल पाँच शाखाओं को ही मान्यता प्रदान की है, तदनुसार– शाकल शाखा, वाष्कल शाखा, आश्वलायन शाखा, शाङ्खायन शाखा, माण्डूकायन शाखा। उपर्युक्त शाखाओं में आजकल ऋग्वेद की केवल **शाकल शाखा** ही उपलब्ध है, इसलिए यही प्रचलन में भी है।

2) **यजुर्वेद संहिता–** पद्यबन्ध और गीतिसहित मन्त्रात्मक संरचना को 'यजुष्' कहा जाता है। इस संहिता में यज्ञ–विषयक मन्त्रों का संग्रह किया गया है।[3] इसीकारण इसे **'अध्वर्युवेद'** भी कहते हैं। उल्लेखनीय है कि इसमें कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता से ग्रहण किए गए हैं। इतना ही नहीं, इस संहिता में कुछ अंश गद्यात्मकरूप में भी विद्यमान है। महर्षि पतञ्जलि ने इसे सौ शाखाओं वाला बताया है,[4] वर्तमान में इसकी केवल छः शाखाएँ ही उपलब्ध हैं–

1. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।
2. एकविंशतिधाबार्ह्वृच्यम् – महाभाष्य आह्निक–1।
3. यजुर्यजते ।
4. एकशतमध्वर्युशाखा– महाभाष्य आह्निक– 1।

(अ) शुक्ल यजुर्वेद की **माध्यंदिन संहिता** और **काण्व संहिता**।

(आ) कृष्ण यजुर्वेद की **कठ, कपिष्ठल, मैत्रायणी** और **तैत्तिरीय** संहिता। इनमें भी माध्यंदिन संहिता को ही वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, इसमें कुल चालीस अध्याय, तीन सौ तीन अनुवाक और 3975 मन्त्र हैं। शुक्ल यजुर्वेद का 'शतपथ ब्राह्मण' और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' अत्यधिक प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में यज्ञ–विषयक मन्त्रों के अलावा ऐन्द्र–जालिक मन्त्र और प्रहेलिकाओं का भी प्रयोग हुआ है।

3) **सामवेद संहिता–** ऋग्वेद के मन्त्रों को ही विशेष गान–पद्धति द्वारा गाए जाने पर इन्हें 'सामन्' कहा गया[1], क्योंकि 'स' अथवा 'सा' का अर्थ है– ऋग्वेद और 'अम' का अभिप्राय है– 'गान'। इस प्रकार साम में वस्तुतः दोनों का समन्वय होता है।[2] यही कारण है कि इस संहिता में ऋग्वेद से ही अधिकाँश मन्त्रों को सङ्कलित किया गया है, क्योंकि इस वेद की कुल मन्त्र–संख्या 1875 में से ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या 1771 रही है।

महर्षि पतञ्जलि ने इसे 1000 शाखाओं वाला बताया है,[3] किन्तु कुछ विद्वानों ने यहाँ 'सहस्र' शब्द से अभिप्राय गान की एक हजार पद्धतियों से ग्रहण किया है।[4] वर्तमान समय में इसकी केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध हैं– राणायणीय शाखा, कौथुमीय शाखा, जैमिनीय शाखा, इनमें जैमिनीय शाखा को ही **तलवकार शाखा** भी कहा गया है। विषय की दृष्टि से सामवेद संहिता में उपासना की ही प्रमुखता रही है, साथ ही, यहाँ सोमयाग से सम्बन्धित मन्त्रों का भी अधिक उपयोग हुआ है।

कौथुमीय शाखा के अनुसार 'सामवेद संहिता' के दो विभाग हैं– **(अ)** पूर्वार्चिक **(ख)** उत्तरार्चिक। यहाँ आर्चिक से अभिप्राय 'ऋचा सम्बन्धी' से ग्रहण करना चाहिए। इसके पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक हैं

[1]. गीतिषु समाख्या । पूर्वमीमांसा– 2.1.36 ।
[2]. यजुर्वेद– अध्याय 30 ।
[3]. सहस्रवर्त्मा सामवेदः– महाभाष्य आह्निक– 1।
[4]. द्रष्टव्य– सामवेद संहिता, दामोदर सातवलेकर भूमिका, पृष्ठ 1–2 ।

और प्रपाठकों को अध्यायों एवं खण्डों में विभाजित किया गया है। इसके एक खण्ड को 'दशति' भी कहते हैं, जिसके अन्तर्गत एक ही देवता और छन्द विषयक ऋचाओं को सङ्कलित किया गया है।

इसके पूर्वार्चिक में सामयोनि ऋचाओं की संख्या कुल 650 रही है तथा उत्तरार्चिक में कुल नौ प्रपाठक विद्यमान हैं। प्रथम से पञ्चम प्रपाठक तक प्रत्येक प्रपाठक में, दो प्रपाठकार्ध तथा षष्ठ प्रपाठक से नवम प्रपाठक तक प्रत्येक में तीन प्रपाठकार्ध हैं, जिनमें सङ्कलन की गयी सामयोनि ऋचाओं की संख्या कुल 1225 रही है।

4) **अथर्ववेद संहिता–** इस संहिता के अन्तर्गत विषयों का वैविध्य प्रयुक्त हुआ है। **जैसे–** यहाँ तन्त्र, मन्त्र और जादू–टोने आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है। कुछ मन्त्र ऋग्वेद से भी ग्रहण किए गए हैं। मुख्यरूप से 'अथर्वा' ऋषि द्वारा द्रष्ट मन्त्रों का संग्रह किए जाने के कारण, इसे 'अथर्ववेद' संज्ञा प्रदान की गयी, किन्तु कुछ विद्वान् 'अथर्वा' की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं।[1] इसी को आङ्गिरस वेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, ब्रह्मवेद आदि नामों से भी पुकारा गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने इसकी नौ शाखाओं का कथन किया है,[2] किन्तु वर्तमान में इसकी शौनक और पैप्पलाद दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। अध्यात्म, दार्शनिक चिन्तन, सभ्यता और संस्कृति आदि अनेक दृष्टियों से भी इस वेद का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अलावा इस वेद के मन्त्रों का विनियोग शान्ति स्थापना, शत्रुओं से सन्धि, यात्राओं में सुरक्षा, धन–दौलत, स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्राप्त करने और रोगों, दुष्टों

[1]. (क) गोपथ ब्राह्मण ने अथर्वा को अथर्वाक् का संक्षिप्त रूप मानते हुए 'समीप में स्थित आत्मा को अपने अन्दर देखने से' ग्रहण किया है। (गोपथ– 1–4)

(ख) जबकि निरुक्तकार ने √थर्व् धातु को गत्यर्थक मानते हुए अथर्वन् का अर्थ गतिहीन या स्थिर किया है। इसका अभिप्राय हुआ कि– इस वेद में चित्तवृत्तियों के निरोधरूपी योग का उपदेश किया गया है, इसलिए इसका नाम अथर्ववेद रखा गया है। निरुक्त– 11–18 ।

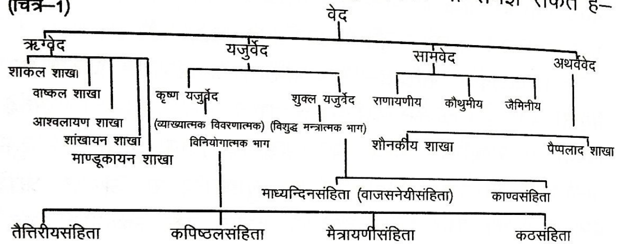
[2]. **नवधाऽऽथर्वणोवेदः । महाभाष्य आह्निक– 1 ।**

के विनाश के लिए भी किया जाता था, इसलिए इसे अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

इसकी शौनकीय शाखा में कुल 20 काण्ड, 731 सूक्त, तथा 5987 मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। इनमें भी 1200 मन्त्रों को ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है। इसके 13वें काण्ड में अध्यात्म विषयक सूक्तों का प्रयोग है। इस संहिता का गोपथ ब्राह्मण अत्यधिक प्रसिद्ध है।

संहिता–ग्रन्थों के बारे में संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–1)



(ख) ब्राह्मण–ग्रन्थ– इन्हें वैदिक साहित्य की दूसरी कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। 'संहिता–ग्रन्थों के मन्त्रों की व्याख्या तथा विनियोग करने के कारण इन्हें 'ब्राह्मण' संज्ञा प्रदान की गयी है।' इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' भी है। अतः वेद–मन्त्रों की यज्ञ–विषयक व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण इन्हें 'ब्राह्मण–ग्रन्थ' कहा गया। इनमें यज्ञों की आध्यात्मिक, आधिदैविक और वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि सभी 'ब्राह्मण' ग्रन्थ गद्यरूप में प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि यहाँ हमें सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संस्कृत के गद्यरूप के दर्शन होते हैं। साथ ही, वेद–मन्त्रों की व्याख्या की दृष्टि से भी इनके महत्त्व को स्वीकार किया जा सकता है। इसीप्रकार इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के निर्वचन भी प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्हें व्याकरण एवं भाषा–विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व–पूर्ण माना गया है। सभी चारों संहिताओं के ब्राह्मण–ग्रन्थों का अलग–अलग रूप में निर्माण किया गया है। ध्यातव्य यह भी है कि

इन सभी ग्रन्थों की रचना लगभग सम–सामयिक ही रही है। आचार्य शौनक ने इनकी संख्या 1100 स्वीकार की है, जबकि महर्षि पतञ्जलि ने इसे 1130 माना है, किन्तु वर्तमान समय में केवल नौ ब्राह्मण ग्रन्थ ही मिलते हैं, जिनका संक्षेप में विवरण इसप्रकार है–

(क) **ऋग्वेदीय ब्राह्मण**– ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ विशेषरूप से मिलते हैं–

(i) **ऐतरेय ब्राह्मण**– यह ऋग्वेद का सर्वाधिक प्रसिद्ध ब्राह्मण है। इसके रचयिता 'महर्षि महीदास ऐतरेय' हैं। इसीकारण इसका नाम ऐतरेय ब्राह्मण पड़ा। इसमें कुल चालीस अध्यायों का प्रयोग हुआ है। इस ब्राह्मण का मुख्य वर्ण्य–विषय 'सोमयाग' है। इसके इक्तीस से तैंतीस अध्यायों में शुनःशेप का प्रसिद्ध आख्यान प्रयुक्त हुआ है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि ऋग्वेद का सम्बन्ध 'होता' नामक 'ऋत्विक्' से है, इसलिए इस ब्राह्मण का सम्बन्ध भी 'होता' से ही रहा है। इसी के महत्त्वपूर्ण क्रियाकलापों का वर्णन, इस ब्राह्मण ग्रन्थ में विशेषरूप से उपलब्ध होता है।

(ब) **शाङ्खायन ब्राह्मण**– इसके रचयिता ऋषि कौषीतकि हैं, इसीलिए इसको 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी कहते हैं।' इसमें कुल तीस अध्यायों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें विभिन्न संख्या वाले खण्डों में विभाजित किया गया है। यद्यपि इसका मुख्य विषय सोमयाग है, किन्तु इसमें अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा चातुर्मास्य आदि इष्टियों का वर्णन भी किया गया है। लेखक द्वारा सम्पादित, अनूदित विस्तृत भूमिका तथा परिशिष्टादि के साथ इसका प्रकाशन दो भागों में चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली से 2020 ई. हुआ है।

(ii) **यजुर्वेदीय ब्राह्मण**– जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि यजुर्वेद के दो भाग हैं– शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद। इन दोनों के भी अलग–अलग ब्राह्मण–ग्रन्थों की रचना की गयी, जिसका विवरण इसप्रकार है–

अ) **शतपथ ब्राह्मण** (शुक्ल यजुर्वेदीय)– एक सौ अध्यायों में निबद्ध यह ब्राह्मण अत्यधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है। ध्यातव्य है कि शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाओं माध्यन्दिन और काण्व दोनों के ही 'शतपथ' नाम से अलग–अलग ब्राह्मण प्राप्त होते हैं। विषय की एकरूपता होते हुए भी दोनों में वर्णक्रम और अध्यायों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन आख्यानों के विवेचन तथा यज्ञ–विधान की दृष्टि से इस ब्राह्मण का अत्यधिक महत्त्व है। विद्वद्परम्परा इसका प्रणेता याज्ञवल्क्य ऋषि को मानती आयी है।

ब) **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (कृष्णयजुर्वेदीय)– इस ब्राह्मण के कुल तीस काण्डों में वाजपेय, राजसूय, सोमयाग, अग्न्याधान, सौत्रामणियाग और नक्षत्रेष्टि का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कृष्णयजुर्वेद के दूसरे ब्राह्मण प्राप्त नहीं होते हैं।

(iii) **सामवेदीय ब्राह्मण**– इसके ग्यारह ब्राह्मण उपलब्ध हैं, जिनमें ताण्ड्य, जिसे 'पञ्चविंश' भी कहा जाता है तथा सामविधान और जैमिनीय ब्राह्मण विशेषरूप से कथनीय हैं।

(1) **ताण्ड्य ब्राह्मण**– इसी को 'प्रौढ़', 'पञ्चविंश' तथा 'महा–ब्राह्मण' भी कहते हैं। यह सामवेद की ताण्ड्य शाखा का प्रमुख ब्राह्मण है, इसके 25 अध्यायों का मुख्य विवेच्य 'सोमयाग' रहा है।

(2) **सामविधान ब्राह्मण**– इसके तीन प्रकरणों में पुत्र, ऐश्वर्य तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए, विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। साथ ही, कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र आदि व्रतों का भी यहाँ विस्तार से कथन हुआ है।

(3) **षड्विंश ब्राह्मण**– यह ब्राह्मण वस्तुतः पञ्चविंश का ही परिशिष्ट है। इसमें पाँच प्रपाठक हैं, जिनमें अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक विषयों का वर्णन किया गया है।

(4) **जैमिनीय ब्राह्मण**–इसी का अन्य नाम **तलवकार** भी है। इसमें यज्ञ तथा अनुष्ठानों के महत्त्व का विवेचन किया गया है। इसी ब्राह्मण के एक भाग को जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण अथवा 'गायत्र्यु– पनिषद्'

भी कहा जाता है। इनके अलावा सामवेद के अन्य ब्राह्मण इसप्रकार हैं–

(5) **अद्भुत ब्राह्मण**– षड्विंश के अन्तिम प्रपाठक को ही अद्भुत ब्राह्मण भी कहते हैं, इसमें विभिन्न प्रकार के उत्पातों की शान्ति के विधान की चर्चा की गयी है।

(6) **आर्षेयब्राह्मण**– यह तीन प्रपाठकों तथा 82 खण्डों में विभाजित है। इसका उपयोग वस्तुतः सामवेद की आर्षानुक्रमणी को जानने के लिए किया जाता है। साथ ही, इसमें सामगान के उद्भावक ऋषियों के नामों का भी संग्रह किया गया है।

(7) **दैवत ब्राह्मण**–इसी को 'देवताध्याय' नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं। छन्दों के निर्वचन और देवताओं के वर्णन की दृष्टि से इस ब्राह्मण का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

(8) **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**– पाँच खण्डों वाला यह ब्राह्मण सूत्रों में विभाजित किया गया है। सामगायन को प्रस्तुत करने की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व माना जाता है।

(9) **वंश ब्राह्मण**– इसके तीन खण्डों में सामवेद के आचार्यों की वंश–परम्परा का विस्तार से उल्लेख किया गया है, इसीलिए इसे 'वंश–ब्राह्मण' संज्ञा प्रदान की गयी है।

(10) **छान्दोग्य ब्राह्मण**– इसी का दूसरा भाग मन्त्र–ब्राह्मण भी है। इसमें दो ग्रन्थ निबद्ध हैं– छान्दोग्य ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद्। छान्दोग्य ब्राह्मण में कुल दो प्रपाठक हैं तथा प्रत्येक में दो खण्डों का प्रयोग किया गया है। इसीप्रकार आठ प्रपाठकों में निबद्ध छान्दोग्यो–पनिषद् में अनेकानेक रोचक विषयों का वर्णन हुआ है। यही वस्तुतः प्रसिद्ध 'छान्दोग्योपनिषद्' भी है।

(iv) **अथर्ववेदीय ब्राह्मण**– इस वेद का केवल एक गोपथ ब्राह्मण ही उपलब्ध होता है–

(अ) **गोपथ ब्राह्मण**– इसके रचयिता महर्षि 'गोपथ' को माना जाता है। अतः उन्हीं के नाम से इसका नामकरण किया गया है। इसे

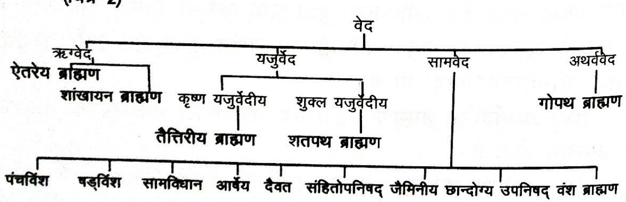
दो भागों में विभाजित किया है– **(क)** पूर्वगोपथ तथा **(ख)** उत्तर गोपथ। इसके प्रथम भाग में पाँच तथा द्वितीय में कुल छः अध्याय हैं तथा सम्पूर्ण ब्राह्मण में ग्यारह प्रपाठक और 258 कण्डिकाएँ हैं। इसका अधिक भाग ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मण से तथा कुछ भाग तैत्तिरीय, शतपथ एवं पञ्चविंश ब्राह्मणों से ग्रहण किया गया है।

इस दृष्टि से इसमें मौलिक अंश कम ही है। इसमें ब्रह्मा की विशेषरूप से प्रशंसा की गयी है। इसके अलावा अथर्ववेद की उत्पत्ति, उसकी प्रशंसा, ओंकार तथा गायत्री की महिमा, ब्रह्मचारी के कर्तव्य और वेदाध्ययन की विधियों का कथन भी किया गया है। इसके पञ्चम प्रपाठक में संवत्सर सत्र तथा अश्वमेध यज्ञों के विधान का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है।

इसी के उत्तर–गोपथ में विभिन्न प्रकार के यज्ञों की प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। वस्तुतः विषय विवेचन की दृष्टि से इसमें व्यवस्था का अभाव है। इसके **प्रथम** प्रपाठक में यज्ञ के भाग हेतु रुद्र के युद्ध का, **दूसरे** में विभिन्न देवताओं के लिए अर्पित की जाने वाली हवियों का तथा **तीसरे** में वषट् और हिंकार के अर्थों के रहस्यों का तथा **चतुर्थ, पञ्चम** और **षष्ठ** प्रपाठक में प्रातः, मध्याह्न और सायं–कालिक यज्ञों की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। ध्यातव्य है कि यज्ञीय प्रक्रियाओं की स्थिति के आधार पर ही विद्वानों द्वारा इसे ब्राह्मण–ग्रन्थों तथा सूत्र–साहित्य के बीच की कड़ी के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

ब्राह्मण–ग्रन्थों को संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–2)



(ग) **आरण्यक–ग्रन्थ**[1]– अरण्य में रहने वाले मुनियों तथा वान–प्रस्थियों ने ब्रह्म–तत्त्व और यज्ञादि के विषय में जो चिन्तन किया, वही इन ग्रन्थों में निबद्ध है। इसी कारण इन्हें 'आरण्यक' संज्ञा प्रदान की गयी। सायण का इस विषय में मन्तव्य है कि–

'अरण्य एव पाठ्यत्वाद् आरण्यकमितीर्यते'

रचनाक्रम की दृष्टि से संहिताओं तथा ब्राह्मण–ग्रन्थों के बाद ही आरण्यकों का स्थान माना गया है। एक ओर ये ब्राह्मण–ग्रन्थों के परिशिष्ट हैं तो दूसरी ओर इनमें उपनिषदों के बीज भी विद्यमान हैं। इसके अलावा इन्हें ब्राह्मण–ग्रन्थों का पूरक भी माना गया है, क्योंकि इनमें हमें ज्ञान–काण्ड तथा कर्म–काण्ड का समन्वय दृष्टिगत होता है। इन ग्रन्थों में हमें आत्मा, परमात्मा, ज्ञान, कर्म, उपासना तथा सृष्टि की उत्पत्ति आदि उपनिषदों के अनेक विषयों के साथ–साथ वैदिक यागों के आध्यात्मिक एवं तात्त्विक चिन्तन के भी दर्शन होते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से तो जितनी संहिताएँ हैं, उतने ही ब्राह्मण तथा उतने ही उनके आरण्यक भी होने चाहिएँ, किन्तु वर्तमान समय में कुछ ही आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

(i) **ऋग्वेदीय आरण्यक**–ब्राह्मण–ग्रन्थों के समान ही ऋग्वेद के दो आरण्यक उपलब्ध हैं, जिनका यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

अ) **ऐतरेय आरण्यक–** ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के परिशिष्ट को ही 'ऐतरेय आरण्यक' कहते हैं। इसमें कुल अट्ठारह अध्याय हैं, जो पाँच भागों में विभक्त हैं। यह प्रत्येक भाग भी आरण्यक कहा जाता है। इसमें उक्थ, प्राण–विद्या, महाव्रत, पदपाठ एवं क्रम–पाठों के वर्णन के साथ–साथ स्वर, व्यञ्जन के स्वरूप का भी कथन किया गया है। इसके प्रथम तीन भागों के रचयिता ऐतरेय ऋषि, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पञ्चम के आचार्य शौनक माने गए हैं। इस आरण्यक पर शङ्कराचार्य और सायण ने भाष्य किया है।

---

1. अरण्ये भवम्, इति आरण्यकम् अर्थात् अरण्य में उत्पन्न होने वाला ।

ब) शाङ्खायन आरण्यक– इसमें पन्द्रह अध्याय, 137 खण्डों में विभक्त हैं। इसी आरण्यक के तीन से छः अध्यायों को कौषीतकि उपनिषद् कहा जाता है। इस आरण्यक का प्रमुख विवेच्य महाव्रत रहे हैं। इसमें काशी, मत्स्य, उशीनर, विदेह तथा कुरु–पाञ्चालों का उल्लेख, इसे मध्यप्रदेश से सम्बद्ध करता है। इसके तेरहवें अध्याय में उपनिषदों के अनेक उद्धरण दिए गए हैं।

(ii) **यजुर्वेदीय आरण्यक–** शुक्ल यजुर्वेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के अन्त में स्थित छः अध्याय 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहे जाते हैं। बीच–बीच में यज्ञों के महत्त्व का कथन किए जाने से कुछ विद्वान् इसे 'आरण्यक' कहते हैं, किन्तु इसमें उपनिषदों का विषय वर्णित होने के कारण इसे उपनिषद् मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक उपलब्ध हैं–

(अ) **तैत्तिरीय आरण्यक–** कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसे इस नाम से कहा गया है। इसके 10 प्रपाठकों में 170 अनुवाक हैं। **यज्ञोपवीत** का सर्वप्रथम उल्लेख इसी आरण्यक में मिलता है। अग्नि की उपासना, स्वाध्याय, पञ्च महायज्ञ, इष्टिका–चयन, अभिचार मन्त्र एवं पितृमेध आदि का इसमें वर्णन हुआ है। इसके अलावा इसमें कुरुक्षेत्र, खाण्डव तथा पाञ्चाल आदि प्रदेशों के नामों का भी कथन है। इसके 10वें प्रपाठक को 'नारायणीय उपनिषद्' कहते हैं। इस आरण्यक में 'नरकों' का वर्णन भी किया गया है तथा उपनिषदों के लिए यहाँ 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(ब) **मैत्रायणी आरण्यक–** इसका सम्बन्ध कृष्ण–यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से है, इसलिए इसे 'मैत्रायणी उपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें आरण्यक और उपनिषद् का अंश मिश्रित है। यह आरण्यक सात प्रपाठकों में विभाजित किया गया है।

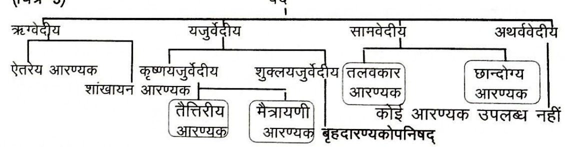
(iii) **सामवेदीय आरण्यक–** इससे सम्बन्धित दो आरण्यक उपलब्ध हैं–

(अ) **तलवकार आरण्यक–** इसी का दूसरा नाम 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' या 'तलवकार आरण्यक' भी है। इसमें ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् तीनों का मिश्रण है। इसमें कुल चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है। इसके चतुर्थ अध्याय के दसवें अनुवाक को ही 'केनोपनिषद्' के नाम से जाना जाता है। इसमें सामवेद के अनेक मन्त्रों की सुन्दर व्याख्या की गयी है।

(ब) **छान्दोग्य आरण्यक**–डॉ. सत्यव्रत सामश्रमी ने इसे 'सामवेद आरण्यक संहिता' के नाम से प्रकाशित किया है।

(iv) **अथर्ववेदीय आरण्यक–** अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है। आरण्यकों को संक्षेप में इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–3)



(घ) **उपनिषद् ग्रन्थ–** यद्यपि आरण्यक–ग्रन्थों के बाद उपनिषद् ग्रन्थ आते हैं, किन्तु हमारा विवेच्य **ईशावास्योपनिषद्** होने के कारण इनका विवेचन हम विस्तार से आगे करेंगे। यहाँ पहले उपनिषदों के बाद वैदिक साहित्य के सहयोगी ग्रन्थों, षड्वेदाङ्ग के विषय में कथन कर रहे हैं–

(ङ) **वेदाङ्ग**–वेदों के वास्तविक अर्थ को जानने में सहयोगी अङ्गों को 'वेदाङ्ग' कहा जाता है। इनके द्वारा मन्त्रों के अर्थों तथा उनकी व्याख्या एवं यज्ञादि में उनके विनियोग आदि का ज्ञान होता है। आरम्भिक काल में इनकी स्थिति वेदों के अध्ययन में सहयोगी के रूप में थी, किन्तु बाद में स्वतन्त्र अङ्गों के रूप में इनका विकास हुआ। वेदाङ्गों की संख्या छः मानी गयी है। इनका हम यहाँ संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **शिक्षा–** यह वेदाङ्ग, वेदरूपी पुरुष का 'घ्राण' माना गया है।[1] आचार्य सायण ने इसे इसप्रकार परिभाषित किया है–

स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा[2]

वेदों में स्वरों के शुद्ध उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है। शिक्षा ग्रन्थों में स्वर–वर्णों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा प्रदान की गयी है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में इस विषय का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध नियमों का उल्लेख करने के कारण इन्हें 'प्रातिशाख्य' कहा गया है। मुख्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों में–ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्ल–यजुः प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, साम–प्रातिशाख्य, अथर्व–प्रातिशाख्य, विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

पुष्पसूत्र और पञ्चविधसूत्र भी सामवेद के प्रातिशाख्य हैं। इसके अलावा पाणिनीय–शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, व्यास–शिक्षा, नारद–शिक्षा, माण्डूकी–शिक्षा, भारद्वाज–शिक्षा, वसिष्ठ–शिक्षा, पाराशर–शिक्षा आदि चौंतीस शिक्षा ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं।

(ख) **व्याकरण–** इसे वेदरूपी पुरुष का 'मुख' माना गया है।[3] 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति, व्याकरणम्' परिभाषा के अनुसार व्याकरण द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति का विधान किया गया है, जो किसी भी भाषा का आवश्यक अङ्ग होता है। आचार्य कात्यायन एवं महाभाष्य–कार पतञ्जलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजनों का उल्लेख है–

'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्।'

यहाँ रक्षा से अभिप्राय वेदों की रक्षा। ऊह, से अभिप्राय नए–नए पदों की परिकल्पना करना, आगम से अभिप्राय निष्कामभाव से वेदों का अध्ययन करना तथा लघु शब्द से संक्षेप में शब्दज्ञान प्राप्त करना एवं असंदेह से अभिप्राय संदेहों के निवारण से ग्रहण करना चाहिए। उपलब्ध लगभग दस प्रातिशाख्य ग्रन्थों तथा ऋक्तन्त्र आदि सात अन्य वैदिक व्याकरण के ग्रन्थों में लगभग 59 आचार्यों ने इस वेदाङ्ग को

1. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य– पाणिनीय शिक्षा।
2. ऋक्भाष्यभूमिका, पृष्ठ– 49 ।
3. मुखं व्याकरणं स्मृतम्। पाणिनीय शिक्षा ।

पुष्पित एवं पल्लवित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। आज भी लौकिक संस्कृत में इसका उतना ही महत्त्व बना हुआ है।

(ग) **छन्द–** वेद मन्त्रों के ठीक–ठीक उच्चारण तथा उनके ज्ञान हेतु छन्दों की जानकारी आवश्यक है। 'छन्दांसि छादनात्' परिभाषा के अनुसार–'छन्द' मन्त्र के अभिप्राय को आच्छादित करके, उसे समष्टि रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेद में वार्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। वेद मन्त्रों के प्रत्येक पाद अर्थात् चरण में वर्णों की निश्चित संख्या होती है। ऋक्प्रातिशाख्य के तीन पटलों (16, 17, 18) में ऋग्वेद के छन्दों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसीप्रकार पिङ्गल का छन्दःसूत्र, कात्यायन की छन्दोऽनुक्रमणी तथा सर्वानुक्रमणी विशेषरूप से उल्लेखनीय छन्दविषयक ग्रन्थ हैं।

(घ) **निरुक्त**–वेदों के अर्थों को जानने के लिए 'निरुक्त' नामक वेदाङ्ग का विशेष महत्त्व है। इसमें वेद में प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन–पद्धति से उल्लेख किया गया है। वर्तमान समय में आचार्य यास्क द्वारा विरचित निरुक्त, इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। निघण्टु नामक वैदिक शब्दकोष इसका मुख्य आधार है। इसमें वर्णागम, वर्ण–विपर्यय, वर्ण–विकार, वर्ण–नाश, धातु और उसके अर्थातिशय के साथ योग आदि विषयों का मुख्यरूप से प्रतिपादन किया गया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य यह भी है कि निरुक्त और व्याकरण दोनों ही आपस में गहनरूप से जुड़े हुए हैं। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्दों की रचना का बोध कराना है। इससे उनके अर्थों का भी बोध हो जाता है, जबकि निरुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति करके, उसके अनेक प्रचलित अर्थों का ज्ञान कराता है। आचार्य यास्क ने अपने पूर्ववर्ती बारह निरुक्तकारों के नामों का उल्लेख किया है। तदनुसार–आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्कथ्य, कौष्टुकि,

गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि तथा स्वयं आचार्य यास्क तेरहवें निरुक्तकार हैं।

(ङ) **ज्योतिष–** इसमें यज्ञों के काल–विधान का उल्लेख किया गया है, वैदिक यज्ञों के मुहूर्त निर्धारण हेतु इस वेदाङ्ग की आवश्यकता का अनुभव किया गया, क्योंकि किसी भी कार्य का आरम्भ शुभ नक्षत्र में करने पर ही उसकी निर्विघ्न समाप्ति तथा उससे उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। इसके रचयिता **'आचार्य लगध'** माने गए हैं। ज्योतिष शास्त्र की गणना का आधार बारह राशियाँ हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि की गति का निरीक्षण एवं विवेचन करना ही इसका प्रमुख विवेच्य है।

(च) **कल्प–** वेदाङ्गों में कल्प का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'कल्प्यते समर्थ्यते याग प्रयोगोऽत्र इति' इत्यादि परिभाषा के अनुसार इन ग्रन्थों में यज्ञ–विषयक अनुष्ठानों में प्रयोग की जाने वाली विधि के निर्देश प्रदान किए गए हैं।

(च) **सूत्रग्रन्थ–** इनकी संख्या चार है– श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्म–सूत्र तथा शुल्वसूत्र।

(i) **श्रौतसूत्र–** श्रौत, दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वाजपेयादि यज्ञों के अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले सूत्रग्रन्थ ही श्रौतसूत्र कहलाते हैं। सभी संहिताओं के सूत्रग्रन्थों की अलग–अलग रचना की गयी। **जैसे– ऋग्वेदीय–**आश्वलायन एवं शांखायन श्रौतसूत्र। **शुक्ल यजुर्वेदीय–** कात्यायन श्रौतसूत्र। **कृष्ण–यजुर्वेदीय–**बोधायन, आपस्तम्ब, हिरण्य–केशी, वैखानस, भारद्वाज, वराह और मानव श्रौतसूत्र। **सामवेदीय–** आर्षेय, लाट्यायन, द्राह्यायन, जैमिनीय श्रौतसूत्र। **अथर्ववेदीय–**वैतान श्रौतसूत्र।

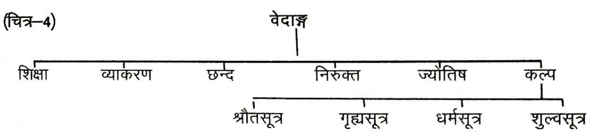
(ii) **गृह्यसूत्र–** गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित संस्कारों एवं विधियों का वर्णन इन गृह्यसूत्रों में किया गया है। अलग–अलग संहिताओं के गृह्यसूत्र इसप्रकार हैं– **जैसे, ऋग्वेदीय–** आश्वलायन, शाङ्खायन एवं कौषीतकि गृह्यसूत्र। **शुक्लयजुर्वेदीय–** पारस्कर गृह्यसूत्र। **कृष्ण**

यजुर्वेदीय– द्राह्यायन, खादिर, जैमिनीय, गौभिल गृह्यसूत्र। **अथर्ववेदीय–** कौशिक गृह्यसूत्र।

(iii) **धर्मसूत्र–** इन ग्रन्थों में आचार–विचार, धर्म, न्याय, नीति–रीति तथा सभी वर्णों के लिए सामाजिक नियमों का उल्लेख किया गया है। वर्तमान समय में उपलब्ध धर्मसूत्र इसप्रकार हैं, **जैसे– ऋग्वेदीय–** वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्र कौषीतकीय धर्मसूत्र। **शुक्ल यजुर्वेदीय–** हारीत एवं शङ्ख धर्मसूत्र। **कृष्णयजुर्वेदीय–** बौधायन, हिरण्यकेशी तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र, **सामवेदीय–** गौतम धर्मसूत्र।

(iv) **शुल्वसूत्र–** इन सूत्रग्रन्थों में यज्ञवेदी के निर्माण के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी है। मैक्डॉनल ने इन्हें रेखागणित विषयक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ बताया है, क्योंकि इनमें ज्यामितीय ज्ञान का उत्कृष्ट रूप परिलक्षित होता है। इन्हें भारतीय गणित शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। कात्यायनकृत शुल्वसूत्र (शुक्लयजुर्वेदीय) बोधायन, मानव तथा आपस्तम्बकृत शुल्बसूत्र (कृष्णयजुर्वेदीय) प्रमुखरूप से उपलब्ध हैं। **वेदाङ्गों** के विषय में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–4)



(छ) **अनुक्रमणी साहित्य–** वेदाङ्गों के अतिरिक्त वेदों से सम्बद्ध अनुक्रमणिकाओं की भी रचना की गयी, जिनमें ऋषियों, छन्दों, देवताओं आदि विषयों की विस्तारपूर्वक सूचियाँ दी गयी हैं। अनु–क्रमणियों को वस्तुतः वैदिक मन्त्रों की क्रमबद्ध सूचियाँ भी कहा जा सकता है। इनके रचयिताओं में आचार्य कात्यायन एवं आचार्य शौनक का नाम विशेषरूप से ग्रहण किया जा सकता है। संहिता–ग्रन्थों के अनुसार इनका विवरण इसप्रकार है–

(क) **ऋक्सर्वानुक्रमणी–** इसी को सर्वानुक्रमणी भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। आचार्य कात्यायन ने इनका सूत्ररूप में लेखन किया है। इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का पहला पद,

ऋचाओं की संख्या, सूक्तों के ऋषियों, उनके गोत्रों, देवताओं तथा छन्दों का उल्लेख किया गया है। इसकी रचना आचार्य शौनक के पश्चात्, किन्तु आचार्य पाणिनि से पहले हुई है। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य उवट ने इसपर भाष्य की संरचना की तथा षड्गुरुशिष्य ने इसकी 'वेदार्थदीपिका' नाम से वृत्ति लिखी।

ऋग्वेद की रक्षा के लिए आचार्य शौनक ने– आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता, ऋक्प्रातिशाख्य तथा शौनकस्मृति आदि ग्रन्थों की रचना की।

(ख) **ऋक्यजुःसर्वानुक्रमसूत्र–** यह यजुर्वेद की अनुक्रमणियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। सूत्ररूप में निबद्ध तथा पाँच अध्यायों में विभक्त इसकी रचना आचार्य कात्यायन ने की है। इसमें शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के देवता, ऋषि एवं छन्दों का विस्तृत परिचय दिया गया है। यज्ञ–विधान एवं अनुष्ठानों की भी इसमें चर्चा की गयी है। इस पर महायाज्ञिक श्रीदेव द्वारा विरचित भाष्य भी मिलता है।

इसके अलावा कात्यायन द्वारा विरचित कुछ परिशिष्ट ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें निगम परिशिष्ट, प्रवराध्याय और चरणव्यूह विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से निगम परिशिष्ट को शुक्ल–यजुर्वेद के पर्यायवाची शब्दों का 'कोश' कहा जा सकता है, जबकि प्रवराध्याय में ब्राह्मण कुलों की सूची दी गयी है। चरणव्यूह में वेदों की सभी शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(ग) **याजुष् सर्वानुक्रमणी–** आचार्य यास्क ने कृष्णयजुर्वेद को आधार बनाकर इसकी संरचना की। इसीप्रकार एक 'काण्डानुक्रमणी' भी मिलती है, जिसमें तैत्तिरीय संहिता के काण्डों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

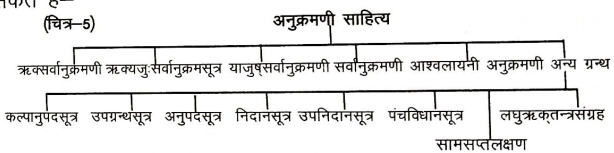
(घ) **सर्वानुक्रमणी–**अथर्ववेद की अनुक्रमणियों में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। इसके अन्तर्गत अथर्ववेद के 19 काण्डों तक प्रत्येक काण्ड के सूक्तों, मन्त्रों, ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का पूर्ण विवरण प्रदान किया गया है।

(ङ) **आश्वलायनी अनुक्रमणी–** इसके प्रणेता आचार्य शौनक हैं। इसमें अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के सम्बन्ध में मन्त्र, ऋषि, देवता, छन्दादि का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'पञ्च पटलिका', 'दन्त्योष्ठविधि', 'अथर्वपरिशिष्ट' एवं 'चरणव्यूहसूत्र' आदि ग्रन्थ भी अनुक्रमणी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित हैं।

(च) सामवेद की कोई भी अनुक्रमणी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इस वेद की अनुक्रमणियों के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए लिखे गए कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें कल्पानुपद सूत्र, उपग्रन्थ सूत्र, अनुपद सूत्र, निदान सूत्र, उपनिदान सूत्र, पञ्चविधान सूत्र, लघु–ऋक् तन्त्र संग्रह तथा साम सप्त लक्षण विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

अनुक्रमणी साहित्य के विषय में संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–5)



(2) **उपनिषद् ग्रन्थ–** ये ग्रन्थ वस्तुतः ज्ञान का भण्डार कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनमें हमारे प्राचीन ऋषि, मुनियों के अथाह ज्ञानराशि को संजोकर रखा गया है, विशेषरूप से भारतीय आस्तिक दर्शनों ने उपनिषद् वाक्यों को श्रुतिवाक्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए, अपने मत की पुष्टि की है। इनके विषय में हम यहाँ विस्तारपूर्वक उल्लेख कर रहे हैं।

(i) **उपनिषद् का अभिप्राय–** उप एवं नि उपसर्गपूर्वक √सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है– 'तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के निकट विनम्रतापूर्वक बैठना' उपनिषदों में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् का एक अर्थ 'ब्रह्मविद्या' भी है, क्योंकि इन ग्रन्थों में 'ब्रह्मविद्या' के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है, इसलिए इन्हें उपनिषद् कहा गया।

(ii) **उपनिषदों का महत्त्व**– भारतीय संस्कृति के अनुसार व्यक्ति के जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का अत्यधिक महत्त्व है। पुनरपि इनमें भी मोक्ष को प्राप्त करना, उसके जन्म का मुख्य उद्देश्य रहा है, जिसकी प्राप्ति में उपनिषद् ही हमारा मार्गदर्शन करते हैं। इस दृष्टि से उपनिषदों का महत्त्व निर्विवाद है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि वर्तमान भौतिकवादी युग में जब व्यक्ति अनेकानेक परेशानियों से जूझ रहा है, उपनिषद् साहित्य का अध्ययन ही उसे शान्ति प्रदान करने वाला है। इसके अतिरिक्त हमारी अनेकानेक जिज्ञासाओं का शमन भी ये उपनिषद् ग्रन्थ ही करते हैं। **जैसे**– मृत्यु के बाद व्यक्ति का क्या होता है? व्यक्ति के जन्म का क्या उद्देश्य है? मरने के बाद क्या व्यक्ति का फिर से जन्म होता है? और क्यों? क्या हम सांसारिक दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं? यदि हाँ, तो उसे किसप्रकार प्राप्त किया जा सकता है? व्यक्ति के जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है? आदि–आदि।

भारतीय दर्शन के मूल आधार उपनिषदों के अध्ययन से ही हमें उक्त सभी जिज्ञासाओं का समाधान सहज ही हो जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय ज्ञानगरिमा के उत्कृष्ट प्रतीक ये उपनिषद् ही हैं। यही कारण है कि वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार न करने वाले, नास्तिक दर्शनों पर भी उपनिषदों का प्रभाव सहज ही देख सकते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रमुख भारतीय दर्शन, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), न्याय, वैशेषिक आदि षड्दर्शनों का तो उद्भव ही उपनिषदों से हुआ है। यही कारण है कि इन सभी दर्शनों में अपने कथ्य अर्थात् सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पद–पद पर उपनिषद् वाक्यों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुतः न केवल आत्म–ज्ञान की दृष्टि से, अपितु व्यक्ति के कर्तव्य निर्धारण की दृष्टि से भी उपनिषदों की महत्ता को मुक्त–कण्ठ से स्वीकार किया जा सकता है, जिससे न केवल मानव, अपितु समाज का भी हित–साधन सम्भव है। जैसे–

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है कि– हमेशा सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, सत्य तथा धर्म का कभी भी अपने जीवन में परित्याग न करो, उन्नति के साधन तथा शुभ कर्मों का कभी त्याग नहीं करो तथा निर्दोष कर्मों को करते हुए, सदा ही अपने सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धापूर्वक दान दो।

इसप्रकार की शिक्षा हमें उपनिषदों में पद–पद पर देखने को मिलती है। इस आधार पर कहा जा सकता है, हमारे उपनिषद् न केवल ज्ञान के भण्डार हैं, अपितु हमारी सामाजिक व्यवस्था में भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके अलावा यदि हम भारतीय संस्कृति के सही स्वरूप के दर्शन करना चाहते हैं, तो हमें उपनिषदों का ही मुखापेक्षी होना पड़ेगा। वस्तुतः उपनिषदों को भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यही कारण है कि न केवल भारतीय, अपितु विदेशी विद्वानों ने भी उपनिषदों के ज्ञान भण्डार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, जिनमें विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द, सन्त विनोबाभावे, डॉ. राधाकृष्णन् आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जबकि विदेशी विद्वानों में दाराशिकोह, शॉपेन हॉवर, मैक्समूलर, मैक्डॉनल, पाल डायसन, फेडरिक श्लेगेल, प्रो. जी. आर्क, प्रो. ह्यून आदि का कथन किया जा सकता है।[1] फ्रेंच भाषा के विद्वान् 'ड्यूनसा' ने तो अनेक वर्षों तक भारत में रहकर, संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करके, उपनिषदों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी किया है, जिसे उपनिषदों के महत्त्व एवं उपयोगिता की दृष्टि से भी देख सकते हैं।

(iii) **उपनिषदों का रचना काल**– उपनिषदों की रचना किस काल–खण्ड में हुई, इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि इनकी रचना का आरम्भ, आरण्यकों के समय से ही हो गया था, किन्तु आरण्यकों का रचना–काल भी अनिश्चित होने के कारण उपनिषदों के काल–निर्धारण में पर्याप्त कठिनाई होती है।

---

[1] द्रष्टव्य, लेखक द्वारा अनूदित कठोपनिषद् (प्रथम अध्याय) प्रकाशक, धर्म–नीराजना, प्रकाशन, दिल्ली–7, 1998। भूमिका–पृष्ठ, 13–14 ।

पुनरपि उपनिषदों की भाषा तथा विचारों के आधार पर विद्वानों ने कुछ अनुमान अवश्य लगाया है, जिसे हम इसप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

(a) अष्टाध्यायी के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आचार्य पाणिनि उपनिषदों से परिचित रहे हैं, क्योंकि उन्होंने एक सूत्र में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया है।[1] इसीप्रकार ग्रन्थवाची उपनिषद् शब्द का प्रयोग भी अष्टाध्यायी में हुआ है।[2] इसके अलावा अष्टाध्यायी के अन्य सूत्र में[3] आचार्य पाणिनि ने छान्दोग्य शब्द से आम्नात अर्थ में छान्दोग्य पद को निष्पन्न बताया है, जिसे स्पष्टरूप से उपनिषद् से सम्बद्ध कह सकते हैं।[4] उनका समय विद्वानों ने 500 ई.पू. स्वीकार किया है।[5] इसलिए उपनिषदों का काल इससे पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है।

(b) उपनिषदों की भाषा वैदिक संस्कृत की अपेक्षा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट होने से इन्हें रामायण तथा महाभारत का पूर्ववर्ती मानना उचित प्रतीत होता है।

(c) प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् मैक्डॉनल ने उपनिषदों का रचना काल 600 ई.पू. के लगभग माना है।

(d) इसीप्रकार विदेशी विद्वान् लुडविग का मानना है कि उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान को निश्चय ही, आज से तीन हजार वर्ष पुराना होना चाहिए।

(e) इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध ने हिंसा के मार्ग का अवलम्बन करने वाले यज्ञों का विरोध किया था। इसलिए उपनिषदों की रचना इससे भी पर्याप्त पूर्व में मानना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। महात्मा बुद्ध का समय छठी शताब्दी ईसापूर्व माना जाता है।

---

1. जीविकोपनिषदावौपम्ये। अष्टाध्यायी– 1/4/79 ।
2. अष्टाध्यायी– 4/3/73 ।
3. अष्टाध्यायी– 4/3/129 ।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरौला, पृष्ठ–146।
5. (क) संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ. सूर्यकान्त, प्रकाशक– ओरियण्ट लॉंगमैन, पृष्ठ–319।
(ख) वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक– शारदा मन्दिर काशी। पृष्ठ–233।

(f) लोकमान्यतिलक ने 'आरोयन' नामक अपने प्रबन्ध में पश्चिमी विचारकों का खण्डन करते हुए, गणित एवं ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उपनिषदों को ई.पू. 1880 से 1680 ई.पू. के मध्य स्वीकार किया है। यह निष्कर्ष उन्होंने मैत्र्युपनिषद् में उदगयन की ज्योतिषीय गणना के आधार पर प्रस्तुत किया है।[1]

(g) बालगङ्गाधर तिलक के अनुयायी विद्वानों ने उपनिषदों की रचना 16 वीं शती ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व के मध्य मानी है।

(h) इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि उपनिषद् जैसे उत्कृष्ट एवं विशाल साहित्य को किसी भी दृष्टि से दस, बीस वर्षों की संरचना स्वीकार नहीं किया जा सकता है, अपितु यह तो भारतीय ऋषियों की शताब्दियों की साधना का परिणाम है। ब्राह्मण–काल में जब यज्ञविषयक कर्मकाण्डों की जटिलता में वृद्धि हुई तथा उसमें हिंसा ने अपना प्रमुख स्थान बना लिया तो इसी हिंसा एवं जटिलता को दूर करने के लिए ऋषियों ने विचार किया तथा सत्य का चिन्तन किया। यही सत्य हमें उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है, जिसकी निर्माणावधि कम से कम सात–आठ सौ वर्षों या इससे भी अधिक के अन्तराल में स्वीकार करना न्यायोचित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से बालगङ्गाधर तिलक की उपनिषदों की संरचना विषयक मान्यता अधिक उपयुक्त एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर उपनिषदों की रचना की पूर्वसीमा 16वीं शती ईसा पूर्व से लेकर 600 ईसा पूर्व के मध्य मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(iv) **उपनिषदों के रचयिता**– उल्लेखनीय है कि किसी भी उपनिषद् में उसके रचयिता ने प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुए, अपने नाम का कथन नहीं किया है। इसलिए यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उपनिषदों की रचना किसके द्वारा की गयी? ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः अधिकाँश उपनिषद् समय–समय पर

---

1. मैत्र्युपनिषद्– 6/14 ।

आयोज्यमान यज्ञादि के अवसरों पर की गयी, विचार–गोष्ठियों की देन हैं, जिन्हें सम्भवतः बाद में लिपिबद्ध कर लिया गया और इसमें लिखने वाले के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं रही।

इसीप्रकार कुछ उपनिषद् वैदिक आख्यान अथवा किसी समस्या विशेष को लेकर लिख गए, जिसे व्यक्ति विशेष की ज्ञान–चक्षुमयी प्रतिभा का अनुग्रह कहा जा सकता है, किन्तु इसप्रकार के उपनिषदों में भी उन्होंने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है, जिससे यह समस्या और भी अधिक जटिल हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन ऋषि, मुनियों तथा विद्वानों में विनम्रता तथा अभिमान शून्यता की पराकाष्ठा थी। यही कारण है कि वे अपने नाम की प्रसिद्धि को लेशमात्र भी महत्त्व प्रदान नहीं करते थे, किन्तु हमारे विवेच्य श्वेताश्वतरोपनिषद् इसका अपवाद है, क्योंकि इसका नामकरण इसके उपदेष्टा के नाम से ही किया गया है, क्योंकि श्वेताश्वतर ऋषि ने अपने तपोबल तथा परमात्मा की कृपा से परब्रह्म को जानकर परमहंस संन्यासियों को इसका उपदेश किया–

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्।। 6.21।

इसके अलावा कुछ विद्वानों ने वेदों के समान ही उपनिषदों को भी अपौरुषेय मानने के पक्षधर होने से इन्हें परमात्मा के अलौकिक प्रकाशपुञ्ज से निसृत कहा। उनके मत में, उपनिषद् वस्तुतः वेदों के ही व्याख्या ग्रन्थ होने के कारण अपौरुषेय हैं, किन्तु उनकी तर्क सङ्गतता को असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भले ही ऋषियों को दिव्यचक्षु प्राप्त हों, फिर भी वेदादि की उद्भूति का माध्यम तो उन्हें स्वीकार किया ही जा सकता है, क्योंकि माध्यम की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। इसलिए हम वेदों तथा उपनिषदों को अपौरुषेय कहकर कहीं अपने पूर्वजों के प्रति उपेक्षाभाव तो नहीं कर रहे हैं, इस विषय पर भी विद्वानों का चिन्तन अपेक्षित है।

(v) **उपनिषदों की संख्या**– विद्वानों ने इसकी संख्या 108 से लेकर 200 तक मानी है। सन् 1948 में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से 120 उपनिषदों का संग्रह मूलरूप में प्रकाशित किया गया, किन्तु इसमें मात्र 13 उपनिषद् ही प्रमुख मानी गयी हैं। शङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने 11 उपनिषदों को प्रामाणिक मानकर उनका भाष्य किया है।[1] शेष उपनिषदों को इन्होंने प्रामाणिक नहीं माना है।

हमारे विवेच्य श्वेताश्वतरोपनिषद् पर भी आचार्य शङ्कर ने भाष्य की संरचना की है, जिसे हमने यहाँ मूलरूप से प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय है कि विदेशी विद्वान् प्रो. ह्यूम ने 133 उपनिषदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके, इनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए, अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने ग्यारह उपनिषदों के अलावा कौषीतकि उपनिषद् तथा मैत्रायणीय उपनिषदों का भी अंग्रेजी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया है।

इसी प्रसङ्ग में विशेषरूप से कथ्य यह भी है कि मुक्तिकोपनिषद् में श्वेताश्वतरोपनिषद् को छोड़कर केवल दस उपनिषदों को ही प्रमुखता प्रदान करते हुए उन्हें पठन करने के लिए कहा गया है।[2] इतना ही नहीं, उन्होंने वहीं पर इन दस उपनिषदों के नाम का कथन भी किया है, जो इसप्रकार हैं–

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्य तित्तिरः।
ऐतरेय च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा।।[3]

ध्यातव्य है कि इसी उपनिषद् में प्रत्येक वेद से सम्बन्धित उपनिषदों की संख्या तथा उनके नाम एवं शान्ति–पाठ आदि का विस्तृत विवरण भी दिया गया है। यद्यपि प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वेद से जुड़ा हुआ है तथापि यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें उस वेद के विषयों का ही अनिवार्यरूप से वर्णन किया गया हो।

---

1. ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ।
2. दशोपनिषदं पठ ।
3. मुक्तिकोपनिषद्– 1/30 ।

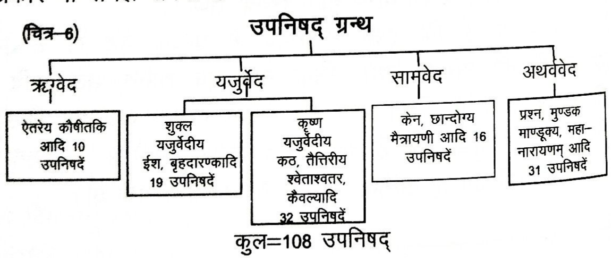
आचार्य वत्सराज ने अपने वैदिक साहित्य के इतिहास में उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ मानते हुए, विषयों के अनुसार उनका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है[1], जो इसप्रकार है–

(क) वेदान्त के सिद्धान्तों पर आधारित	24
(ख) योग के सिद्धान्तों पर आधारित	20
(ग) सांख्य के सिद्धान्तों पर आधारित	17
(घ) वैष्णव सिद्धान्तों पर आधारित	14
(ङ) शैव सिद्धान्तों पर आधारित	15
(च) शाक्त सिद्धान्तों पर आधारित	18
	कुल= 108

उल्लेखनीय है कि इन उपनिषदों में केवल बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ही आकार में बड़े हैं। शेष सभी का आकार अपेक्षाकृत अत्यन्त छोटा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न विषयों पर छोटी–बड़ी उपनिषदों की रचना इसलिए हुई, क्योंकि सभी धर्मों तथा अनुयायियों का यही प्रयास रहा कि उनके मत अथवा विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई न कोई उपनिषद् अवश्य होनी चाहिए।[2]

वेदों के अनुसार उपनिषदों के क्रम व संख्या को हम संक्षेप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

(चित्र–6)



[1]. वैदिक साहित्य का इतिहास, आचार्य वत्सराज, पृष्ठ–42 ।

[2]. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ– 80।

(vi) वेदानुसार उपनिषदों का वर्गीकरण व संक्षिप्त परिचय–

यहाँ हम वेदों के अनुसार प्रमुख तेरह उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(अ) **ऋग्वेदीय उपनिषद्**– ऋग्वेद की दो उपनिषद् प्राप्त हैं–

(a) ऐतरेय उपनिषद्–यह उपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन मानी गयी है। ऐतरेय आरण्यक के चतुर्थ अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक के अङ्ग को 'ऐतरेय उपनिषद्' के नाम से जाना जाता है। इसप्रकार इसमें केवल तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म इन तीन विषयों का विवेचन किया गया है।[1]

(b) कौषीतकि उपनिषद्[2]– आकार की दृष्टि से इसका बृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् के पश्चात् तीसरा स्थान है। इसमें कुल चार अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में पितृयान और देवयान की, द्वितीय और तृतीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा की गयी है तथा चतुर्थ अध्याय में प्रतर्दन, इन्द्र से ब्रह्मविद्या ग्रहण करते हैं। इसी अध्याय में प्राणतत्त्व का अत्यधिक उदात्त एवं विस्तार से वर्णन किया गया है।

(ब) **यजुर्वेदीय उपनिषद्**– इस वेद के प्रमुख छः उपनिषद् हैं, जो इसप्रकार हैं–

(a) **बृहदारण्यकोपनिषद्**– आकार और प्राचीनता की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान है। इसमें छः अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय ब्राह्मणों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण से अभिप्राय यहाँ खण्डों से है। सृष्टि और ब्रह्म इस उपनिषद् का प्रमुख विवेच्य है। उस युग के सबसे बड़े तत्त्वज्ञानी महर्षि याज्ञवल्क्य के विचारों के निबद्ध होने से इस उपनिषद् का अत्यधिक महत्त्व है। इसमें आत्मा का स्वरूप, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, जीवात्मा की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था, जन्म,

[1]. लेखक द्वारा अनुदित, ऐतरेयोपनिषद्, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली।

[2]. लेखक द्वारा अनुदित, कौषितकी उपनिषद्, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली।

मरण और मोक्ष इन छः अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। पुनर्जन्म का सर्वप्रथम उल्लेख इसी उपनिषद् में किया गया है। इसकी भाषा सरल और संवादात्मक प्रयुक्त हुई है।

(b) **श्वेताश्वतरोपनिषद्–** इसमें कुल छः अध्याय हैं तथा प्रमुख वर्ण्यविषय शैव, सांख्य तथा योगदर्शन रहा है। इसके प्रथम अध्याय में शैवधर्म, द्वितीय में योगदर्शन तथा तीसरे से लेकर पाँचवें अध्याय में शैवदर्शन के साथ सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इसके अन्तिम अध्याय में गुरुमहिमा का वर्णन हुआ है। इसे वस्तुतः सांख्य और वेदान्त की आरम्भिक स्थिति का विवेचक उपनिषद् कहा जा सकता है।

(c) **मैत्रायणीयोपनिषद्–** सात प्रपाठकों में विभक्त यह उपनिषद् मुख्यरूप से गद्यात्मक है, किन्तु कहीं–कहीं अत्यल्प रूप में पद्यों का प्रयोग भी हुआ है। दर्शन के विकास क्रम को समझने में यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। इसमें सांख्यदर्शन के तत्त्व 'योग' के छः अङ्गों तथा हठयोग के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ईशोपनिषद् तथा कठोपनिषद् के दो–दो उद्धरण इसमें मिलने के कारण विद्वानों ने इसे इन दोनों ही उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन माना है।

(d) **ईशोपनिषद्–** यह उपनिषद् यजुर्वेद संहिता की वाजसनेयी शाखा का 40 वाँ अध्याय है। इसका आरम्भ 'ईश' पद से होने के कारण इसे 'ईशोपनिषद्' कहा जाता है। इसमें कुल 18 पद्य हैं, जिनमें कर्म और उपासना के रहस्य का ज्ञान की दृष्टि से अन्वेषण किया गया है। साथ ही, इसमें निष्काम कर्म की महत्ता, ब्रह्मस्वरूप, विद्या, अविद्या, सम्भूति एवं असम्भूति का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से किया गया है। हमारा विवेच्य यही उपनिषद् है, इसलिए इसके विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

(e) **कठोपनिषद्–** कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इसे कठोपनिषद् कहते हैं। इसका अन्य नाम काठकोपनिषद् भी है। इसमें केवल दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय तीन–तीन वल्लियों में विभक्त है। इसमें आत्म–विद्या का सुन्दरतम ढंग से प्रतिपादन किया गया है। अन्य उपनिषदों के समान ही इसका प्रतिपाद्य भी जीव, ब्रह्म, जगत्, सत्, असत्, जन्म–मृत्यु, बन्धन और मोक्ष आदि का विवेचन करना ही रहा है। लेखक द्वारा अनुदित यह कृति सम्पूर्णरूप से विस्तृत व्याख्या के साथ चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली द्वारा 2020 में प्रकाशित की गयी है।

(f) **तैत्तिरीयोपनिषद्–** यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम से नवम कुल तीन प्रपाठक ही इस उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं। इनमें कुल तीन वल्लियाँ हैं– शिक्षा, ब्रह्मानन्द तथा भृगु वल्ली। **शिक्षा वल्ली** में चित्त–शुद्धि, गुरुकृपा प्राप्त करने के साधन, गुरु–शिष्य के शिष्ट–सम्बन्ध, उपासना के प्रकार, शिक्षा के प्राचीन आदर्श एवं स्नातक का आचरण, इन सभी विषयों का विस्तृत एवं प्रभावी वर्णन किया गया है। **द्वितीय वल्ली** में ब्रह्म–विद्या का तथा **अन्तिम वल्ली** के अन्तर्गत ब्रह्म–प्राप्ति के विशिष्ट साधन 'पञ्चकोश' का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(स) **सामवेदीय उपनिषद्–** सामवेद की केवल दो उपनिषद् ही उपलब्ध होती हैं–

(a) **छान्दोग्योपनिषद्–** आठ प्रपाठक और 147 खण्डों में विभक्त, आकार की दृष्टि से इसका उपनिषदों में दूसरा स्थान है। छान्दोग्य ब्राह्मण के अन्तिम आठ अध्यायों को ही छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है। इसमें आत्मा, परमात्मा, शरीर की अनित्यता और प्रकृति का सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके चतुर्थ अध्याय में 'सत्यकाम जाबाल' की कथा के माध्यम से ब्रह्म–ज्ञान का आकर्षक उपदेश दिया गया है। षष्ठ अध्याय में उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या

का ज्ञान कराया है। सप्तम अध्याय में नारद और सनत्कुमार की कथा के माध्यम से प्राण का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसीप्रकार अष्टम अध्याय में आत्मा की तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा उसे प्राप्त करने के उपायों को, इन्द्र–विरोचन की कथा के माध्यम से ब्रह्म की सर्वोच्च शक्तिमत्ता का कथन किया गया है।

(ii) **केनोपनिषद्–** आरम्भ में 'केन' पद का प्रयोग होने के कारण इसे केनोपनिषद् कहते हैं। यह सामवेद की तलवकार शाखा से सम्बन्धित है। इसलिए इसका दूसरा नाम तलवकार उपनिषद् भी है। इसमें चार खण्ड हैं, इसके प्रथम खण्ड में सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म के अन्तर का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का विवेचन तथा अन्तिम दो खण्डों में उमा–हैमवती के आख्यान के माध्यम से ब्रह्म की सर्वोच्च शक्तिमत्ता का कथन किया गया है।

(द) **अथर्ववेदीय उपनिषद्**–इनमें निम्न उपनिषद् प्रमुख हैं–

(a) **प्रश्नोपनिषद्–** इसमें ब्रह्म–विद्या की जिज्ञासा से युक्त छः ऋषि, महर्षि पिप्पलाद से अध्यात्म विषय पर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इसलिए इसे 'प्रश्नोपनिषद्' नाम से जाना गया है। महर्षि पिप्पलाद ने ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा में प्रदान किए हैं। सरलता इस उपनिषद् की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। महर्षियों के प्रश्नों के अन्तर्गत प्रजा की उत्पत्ति, देवों की संख्या, उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन, प्राणों की उत्पत्ति, उनके आवागमन का प्रकार, ओंकार की उपासना, **षोडश कला** सम्पन्न पुरुष आदि प्रमुख विषय हैं, इसमें अक्षरब्रह्म को जगत् की प्रतिष्ठा बताया गया है।

(b) **मुण्डकोपनिषद्–** इसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक मुण्डक दो खण्डों में विभाजित है। 'मुण्डक' शब्द का अभिप्राय है– घुटे हुए सिर वाला। ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डन कराए हुए व्यक्तियों के लिए इसका निर्माण किया गया। ब्रह्मविद्या का उपदेश इस उपनिषद् का प्रमुख विवेच्य विषय है। यहाँ ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या को 'परा' तथा वेद–वेदाङ्ग आदि को 'अपरा–विद्या' कहा गया है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः' इत्यादि सांख्यदर्शन से सम्बन्धित प्रसिद्ध मन्त्र इसी उपनिषद् का है, जिसके आधार पर सांख्यदर्शन में जीवात्मा का भोक्ता तथा परमात्मा को तटस्थ साक्षी के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

(c) **माण्डूक्योपनिषद्–** आकार में छोटा होते हुए भी यह उपनिषद् सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें केवल 12 वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। ओंकार शब्द की यहाँ अत्यधिक मार्मिक व्याख्या की गयी है। इसमें चैतन्य की चार अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और चैतन्य तथा आत्मा की वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और शिव आदि चार स्थितियों का प्रभावी वर्णन किया गया है। इसी उपनिषद् के आधार पर गौड़पादाचार्य ने चार खण्डों वाली 'माण्डूक्यकारिका' की रचना की। इसे विद्वानों ने मायावादी वेदान्त को प्रतिष्ठित करने वाला माना है।

ध्यातव्य है कि उक्त उपनिषदों में ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्य आदि उपनिषद् ही अत्यधिक प्राचीन माने गए हैं।

(vii) **उपनिषदों की भाषा शैली–**इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी होने के कारण उपनिषदों की भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट रही है। इसीलिए इनकी भाषा में हमें सरलता, प्रवाहमयता तथा काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं। अलङ्कारों के स्वाभाविक प्रयोग द्वारा यहाँ प्रतिपाद्य विषय को सरल तथा सुन्दररूप में प्रस्तुत किया गया है। अलङ्कारों में भी उपमा तथा रूपक, दृष्टान्त अलङ्कारों का प्रयोग अधिक हुआ है, किन्तु ये अलङ्कार यहाँ बोझरूप में न होकर, अलङ्कार रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, साथ ही, इन अलङ्कारों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि ये यहाँ उपनिषद्–कार के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में ही सहायक सिद्ध हुए हैं।

यहाँ कहीं–कहीं वैदिक शब्दों, प्रत्ययों, निपातों, विभक्तियों आदि का प्रयोग भी परिलक्षित होता है, जो सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य को वैदिक साहित्य से जोड़ने की कड़ी रूप में कार्य करते प्रतीत होते हैं। यही विशेषता हमारे विवेच्य प्रस्तुत उपनिषद् में भी देखी जा सकती है। इसके अलावा हमें उपनिषदों की भाषा में वैविध्य के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं, क्योंकि कुछ उपनिषदों में यदि प्रसाद गुण की प्रधानता है, तो बृहदारण्यकोपनिषद् आदि कुछ में समस्त भाषा का प्रयोग भी पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इसीप्रकार कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, तो कुछ में पद्यात्मकरूप को देख सकते हैं, जबकि कुछ अन्य में गद्य तथा पद्य दोनों का ही प्रयोग हुआ है। इसके अलावा इन उपनिषदों में प्रायः संवादात्मक तथा उपदेशात्मक शैली का प्रयोग मिलता है। कठोपनिषद् को हम संवादात्मक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, क्योंकि इस सम्पूर्ण उपनिषद् में नचिकेता तथा यमराज के संवाद के माध्यम से गति प्राप्त हुई है। ऐसा करने से विषय के प्रतिपादन में रोचकता का आधान हुआ है। रस की दृष्टि से उपनिषदों में प्रायः शान्तरस की ही प्रमुखता रही है।

(viii) **उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्त**– वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन विषयों का प्रमुखरूप से विवेचन किया गया है, जिनमें से कर्म का प्रतिपादन संहिता–ग्रन्थों में तथा ब्राह्मण–ग्रन्थों में हुआ है, जबकि उपासना का विवेचन संहिता एवं आरण्यक–ग्रन्थों में किया गया है तथा ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ वस्तुतः उपनिषद् ही हैं, जिन्हें मोक्ष के साधन के रूप में देख सकते हैं।

उपनिषद ग्रन्थों में विद्या के दो प्रकारों का उल्लेख हुआ है– **प्रथम,** परा–विद्या तथा **द्वितीय,** अपरा–विद्या। इनमें भी परा–विद्या ही ब्रह्म–विद्या होने के कारण श्रेष्ठ मानी गयी है। मुण्डकोपनिषद् में परा तथा अपरा–विद्या दोनों को ही जानने की प्रेरणा तथा आवश्यकता

प्रतिपादित की गयी है। हमारे विवेच्य उपनिषद् में ब्रह्म विद्या का विस्तार से वर्णन हुआ है।

इसके अलावा यहाँ प्रकृति, पुरुष तथा परमात्मा का भी चिन्तन किया गया है। ब्रह्म क्या है? जीव, जगत् और माया का आपस में क्या सम्बन्ध है? ब्रह्म को किसप्रकार प्राप्त किया जा सकता है? आत्मा, प्रज्ञात्मा तथा प्रज्ञान आदि क्या हैं? आत्मा तथा ब्रह्म का क्या रहस्य है? ब्रह्म का साक्षात्कार हम कैसे कर सकते हैं? ये सभी विषय उपनिषदों में वर्णित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त उपनिषद् कर्तव्यशास्त्र भी है, क्योंकि अनेक उपनिषदों में हमें यहाँ दैनिक जीवन के आचरण के विषय में निर्देश प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों को व्यावहारिक ज्ञान का अथाह सागर कहा जा सकता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि उपनिषदों में तत्त्वज्ञान के साथ–साथ व्यवहार, आचार एवं कर्तव्य इन तीनों के विषय में ही अनेक बातें वर्णित हुई हैं, जिनके विषय में हम यहाँ संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा**– जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि उपनिषदों का प्रमुख विषय 'ब्रह्म' रहा है। इनके अनुसार ब्रह्म विश्व की सर्वोच्च सत्ता है, इसी का अन्य नाम परब्रह्म या परम ब्रह्म भी है। आत्मा तो उसका एक सूक्ष्मतम अंश मात्र है। अज्ञान के आवरण के कारण आत्मा अपने स्वरूप को पहचान नहीं पाता है। अज्ञानरूपी आवरण हटने पर, व्यष्टिरूप आत्मा अपने समष्टिरूप ब्रह्म में एकाकार होकर **मुक्त** हो जाता है। उपनिषदों में इसे ईश्वर अथवा श्रद्धा रूप में भी वर्णित किया है तथा इसी को सविशेष एवं निर्विशेष रूप में प्रतिपादित किया गया है।

वेदान्त में इसे 'ब्रह्म', तो सांख्य में 'पुरुष' संज्ञा प्रदान की गयी है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध से रहित सर्वथा अविनाशी, नित्य, अनन्त, ध्रुव और परम है। सभी प्राणियों में इसका दर्शन एकमात्र

बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। इस प्रसङ्ग में कठोपनिषद् के वचन उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।[1]

(ख) **आत्मविषयक सिद्धान्त–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि उपनिषदों में ब्रह्म तथा आत्मा को एकरूप में ही प्रतिपादित किया गया है। अतः ब्रह्म के समान ही आत्मा का अमरत्व भी स्वतः सिद्ध है। वेदान्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि सिद्धान्तों का उपनिषदों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी–संवाद के प्रसङ्ग में आत्मा की अमरता तथा ब्रह्म के साथ इसकी एकरूपता का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। इसके अनुसार–'सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ब्रह्म अथवा आत्मा के केवल एक अंश में विराजमान है। गीता का आत्म विषयक सिद्धान्त उपनिषदों की ही देन है, जिसपर कठोपनिषद् के प्रभाव को विशेषरूप से देखा जा सकता है।[2] इसके अतिरिक्त आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को ही ब्रह्म कहा गया है।[3]

(ग) **कर्मविषयक सिद्धान्त–** उपनिषदों में कर्मविषयक सिद्धान्त को विशेषरूप से महत्ता प्रदान की गयी है। तदनुसार– कर्मों के कारण ही व्यक्ति जन्म बन्धन में बँधता है। व्यक्ति अपने जीवन में जिसप्रकार के कर्म करता है, उसे उसीप्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। अपने कर्मों के अनुसार ही उसे संसार की विविध प्रकार की जीवयोनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, यही उपनिषदों का कर्म–सिद्धान्त है।

1. कठोपनिषद्– 1/3/12
2. न जायते म्रियते वा न कदाचित्....। कठोपनिषद्– 1/2/18 ।
   न जायते म्रियते वा कदाचित् .... । श्रीमद्भगवद्गीता–2/2 ।
   न तत्र सूर्यो भाति..... । कठोपनिषद्– 2/1/15 ।
   न तत्र भासयते सूर्यो ..... । श्रीमद्भगवद्गीता–15/6 ।
3. अयमात्मा ब्रह्म। माण्डूक्योपनिषद् ।

इसी प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि उपनिषदों में अनासक्त भाव से कर्म करने का निर्देश दिया गया है, जिससे व्यक्ति उन कर्मों के बन्धनों से नहीं बँधता है। आचार्य याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में कर्म–सिद्धान्त के विषय में इसप्रकार उल्लेख किया है–

'मृत्यु के बाद पार्थिव शरीर के सभी अंश पञ्चतत्त्वों में विलीन हो जाते हैं, यहाँ केवल 'कर्म' रह जाते हैं। कर्मों से ही व्यक्ति ऊँचा एवं नीचा होता है।'

(घ) **प्राण की महत्ता–** उपनिषदों में प्राण की विशिष्ट महत्ता प्रतिपादित की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् एवं कठोपनिषद् में प्राणतत्त्व की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है– प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। इनमें भी प्राण ही प्रमुख है। कुछ स्थलों पर प्राण को ही आत्मा या ब्रह्म भी बताया गया है।[1]

(ङ) **पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन–** उपनिषदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रमुखता प्रदान की गयी है। तदनुसार– व्यक्ति अर्थात् जीव अपने कर्मों के अनुसार ही, इस संसार में बार–बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है, जबकि आत्मा कभी भी मरता नहीं है, जिस प्रकार व्यक्ति पुराने जीर्ण–शीर्ण वस्त्रों का त्याग कर, उनके स्थान पर नए वस्त्र धारण कर लेता है। ठीक उसीप्रकार आत्मा भी अपने द्वारा धारण किए गए, पुराने शरीर को छोड़कर, नए शरीर को धारण कर लेता है।

(च) **नैतिकता का प्राधान्य–** उपनिषदों में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। इसलिए यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे कर्म करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रायः सभी उपनिषद् हमें अच्छे कर्मों को करने की ही प्रेरणा प्रदान करते हैं,

जैसे– सत्यं वद। धर्मं चर। मा गृधः कस्यस्विद् धनम्। इसी प्रकार कठोपनिषद् में भी– 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ......'[2] आदि का भी उदाहरणरूप से उल्लेख किया जा सकता है।

1. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्–2/1, 2 ।
2. कठोपनिषद्– 1/2/24 ।

(छ) **ब्रह्मचर्य की महत्ता–** उपनिषदों में हमें ब्रह्मचर्य का पालन करने का सन्देश भी प्राप्त होता है। उनके अनुसार– कोई भी व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करके ही अपनी योग–शक्ति को उद्घाटित कर सकता है। इसके पालन के अभाव में व्यक्ति को ब्रह्मसाक्षात्कार होना असम्भव है। प्रस्तुत उपनिषद् में भी इसी बात पर बल दिया गया है।

(ज) **विश्वबन्धुत्व की भावना–** उपनिषदों में केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही उल्लेख नहीं किया गया है, अपितु हमें यहाँ विश्व–बन्धुत्व की भावना के भी दर्शन होते हैं, जिसे यहाँ हम ईशावा–स्योपनिषद् में विशेषरूप से देख सकते हैं। **जैसे–**

वस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।[1]

(झ) **माया का विवेचन–** उपनिषदों में प्रकृति अथवा माया के स्वरूप का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। हमारी विवेच्य श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति को तीन गुणों वाली, लोहित, शुक्ल तथा कृष्णवर्ण वाली कहा गया है। यहाँ प्रकृति को 'माया' तथा पुरुष को 'मायिन्' कहा गया है–

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।[2]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है, कि उपनिषदों में हमें पूर्णरूप से आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। इनका विषय ईश्वर, जीव और जगत् रहा है और 'मोक्ष' को अत्यधिक महत्ता प्रदान की गयी है।

(ix) **ईशावास्योपनिषद् का नामकरण–** सामान्यरूप से उपनिषदों के नाम, उनके मूल ग्रन्थ की शाखा आदि या इनका उपदेश करने वाले ऋषि अथवा फिर उपनिषद् की शैली के नाम के आधार पर रखे गए हैं,**जैसे–** कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रश्नो–पनिषद् आदि, किन्तु हमारे विवेच्य उपनिषद् की विशेषता है कि इसके

[1] . ईशोपनिषद्– 6 ।
[2] . श्वेताश्वतरोपनिषद्– 4/10 ।

पहले मन्त्र के आरम्भ में प्रयुक्त 'ईशावस्य' पद के कारण इसका नाम 'ईशोपनिषद्' अथवा 'ईशावास्योपनिषद्' रखा गया। परब्रह्म का विवेचन होने के कारण इस नाम की सार्थकता स्वतः ही स्पष्ट है। अन्य कुछ उपनिषदों के समान ही, यहाँ पर भी अप्रत्यक्ष रूप से गुरु–शिष्य के मध्य संवादात्मक शैली का प्रयोग करते हुए, गूढतम ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

(x) **ईशावास्योपनिषद् एक परिचय–** हमारा विवेच्य 'ईशावास्य' उपनिषद् वस्तुतः ऐसा एकमात्र उपनिषद् है, जो **शुक्ल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के अनुवाक रूप में** पूर्णरूप से प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से इसे संहिता का पूर्ण आन्तरिक अङ्ग भी कह सकते हैं, इसीलिए विद्वानों द्वारा इसे 'संहितोपनिषद्' संज्ञा भी प्रदान की गयी है। पूर्णतया पद्यात्मक होने से इसे 'मन्त्रोपनिषद्' भी कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का अंश होने के कारण इसकी अन्य महती विशेषता यह भी है कि इसमें एकमात्र वेदों में ही प्रयुक्त होने वाले वार्णिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है।

इनमें भी अनुष्टुप्[1] छन्द का प्रमुख स्थान है, इसके अतिरिक्त जगती,[2] उष्णिक्,[3] गायत्री[4] तथा त्रिष्टुप्[5] छन्द भी यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। ईशोपनिषद् के ऊपर उवट, महीधर, अनन्तभट्ट तथा अनन्ताचार्य के भाष्य प्रसिद्ध माने गए हैं। दो अन्य टीकाएँ रहस्य दीपिका तथा विवृत्ति भी मिलती हैं। इसके अतिरिक्त इसके ऊपर आनन्दगिरि ने अपनी टीका का प्रणयन भी किया है, साथ ही, आचार्य शङ्कर ने भी इस उपनिषद् पर अपने वैदुष्यपूर्ण भाष्य की संरचना की है।

इसी प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण बात यही भी है कि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों ही शाखाओं में इस उपनिषद् के मन्त्रों

[1] . ईशावास्योपनिषद् – 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 9, 10, 11, 12, 13 ।
[2] . ईशावास्योपनिषद्– 8 ।
[3] . ईशावास्योपनिषद्– 15 ।
[4] . ईशावास्योपनिषद्– 17 ।
[5] . ईशावास्योपनिषद्– 18 ।

का प्रयोग चालीसवें अध्याय में ही हुआ है, किन्तु दोनों में प्रयुक्त मन्त्रों के क्रम की भिन्नता होने के साथ एक मन्त्र ऐसा भी है, जो केवल काण्व शाखा में ही प्रयुक्त मिलता है।[1]

इसीकारण शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा में मन्त्रों की संख्या अट्ठारह तथा माध्यन्दिन में सत्रह रही है।[2] हमने काण्व संहिता में प्रयुक्त मन्त्रों को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है, किन्तु परिशिष्ट में इन दोनों के ही मन्त्रों को मूलरूप में दिया है। इसीप्रकार इस उपनिषद् के मन्त्र अन्यत्र भी मिलते हैं, जो कुछ स्थलों पर शाङ्करभाष्य के साथ मेल नहीं खाते हैं।

संहिता में प्रयुक्त मन्त्र संख्या नौ से लेकर ग्यारह तक के मन्त्र अन्य शाखाओं में बारह, तेरह तथा चौदह संख्या पर प्रयुक्त हुए हैं तथा इस उपनिषद् के पन्द्रहवें मन्त्र का अधिकांश भाग वाजसनेयि संहिता में प्रयुक्त मन्त्र के साथ मेल नहीं खाता है। इसके अलावा यहाँ प्रयुक्त अन्तिम पाँच मन्त्र इसीरूप में बृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलते हैं, जिससे इस उपनिषद् के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है।

यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय विशुद्ध ज्ञानकाण्डात्मक है, जो बाद में ईशावास्योपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यहाँ प्रयुक्त मन्त्र संख्या पन्द्रह तथा सोलह, इस उपनिषद् को आदित्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित सिद्ध करता है, जिसका कुछ संस्कृत साहित्य के इतिहास के मर्म को जानने वाले विद्वानों ने उल्लेख भी किया है।[3]

(xi) **ईशावास्योपनिषद् में शाङ्करभाष्य का वैशिष्ट्य**— ध्यातव्य है कि अन्य उपनिषदों के ऊपर लिखे गए भाष्यों के समान ही, इस उपनिषद् पर लिखा गया शाङ्करभाष्य भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इसका

1. पूषन्! एकर्षे! यमः सूर्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन्!
समूह यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ये पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।। ईशावास्योपनिषद्—16 ।

2. **द्रष्टव्य परिशिष्ट—4 ।**

3. **(क) वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ— 145 ।**
(ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. उमाशङ्कर ऋषि, पृष्ठ—51 ।

आरम्भ यहाँ सम्बन्ध—भाष्य से किया गया है, जो भाष्यकार के गहन अध्ययन, चिन्तन तथा मनन का द्योतक है, इसके अन्तर्गत इस उपनिषद् में प्रतिपादित किए जाने वाले सूक्ष्मतम बिन्दुओं की सोद्धरण व्याख्या करके, इसे पूर्णता प्रदान करने का भाष्यकार का प्रशंसनीय प्रयास रहा है। प्रस्तुत भाष्य की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं—

(1) इस भाष्य का सूक्ष्म अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर ने ईशोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, तैत्तिरीय आरण्यक और महाभारत आदि ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था, इसीलिए उन्होंने अपने कथ्य की पुष्टि हेतु इन्हीं ग्रन्थों से भाष्य में यथास्थान उद्धरण प्रस्तुत किए हैं,[1] जो भाष्यकार की गहन अध्ययनशीलता के साथ—साथ उत्कृष्ट तार्किक शैली को परिपुष्ट करते हैं।

(2) भाष्यकार की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि वे अपने अभिप्राय को समझाने के लिए लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा भावसाम्य के लिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा एवं दृष्टान्त आदि अलङ्कारों का सहयोग भी लेते हैं। यद्यपि इस उपनिषद् में विवेच्य विषय की दृष्टि से इसका उन्हें अधिक अवसर प्राप्त नहीं हो सका है, किन्तु इसप्रकार के ये उदाहरण वस्तुतः भाष्यकार की आलङ्कारिक शैली तथा सुन्दर कल्पना शक्ति को ही परिपुष्ट करते प्रतीत होते हैं, जो दूसरे सभी उपनिषदों में भी देखी जा सकती है।

(3) इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि भाष्यकार यहाँ प्रयुक्त निपातों के अर्थों के प्रति भी अत्यधिक सजग रहे हैं। **जैसे—** 'ननु' को शङ्का की प्रस्तुति में, 'नु' को 'वितर्क' अर्थ में प्रयुक्त माना है तथा 'इव' निपात के अर्थ के प्रति भी सजगता प्रदर्शित की गयी है, ये सभी स्थल वस्तुतः भाष्यकार की सूक्ष्मदृष्टि के परिचायक कहे जा सकते हैं, किन्तु

1. **द्रष्टव्य परिशिष्ट—3 ।**

कुछ स्थलों पर निपात विशेष को इन्होंने अनर्थक भी स्वीकार किया है, जिन्हें हमने उनके भाष्य में यथास्थान रेखाङ्कित किया है, **जैसे–**

(क) **स्विदित्यनर्थको निपातः।**[1]

(ख) **नामशब्दोऽनर्थको निपातः।**[2]

4) इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि– यहाँ भाष्यकार शब्दों के अभिप्राय को समझाने के लिए इनका निर्वचन करना नहीं भूलते हैं, जिससे उनका निरुक्त विषयक गहन–ज्ञान भी अभिव्यक्त हुआ है। **जैसे–**

मनीषी मनस ईषिता, सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां परि उपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति, येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः।[3]

(5) जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, सामान्यरूप से भाषा यहाँ सरल, भावबोधगम्य तथा प्रवाहपूर्ण प्रयुक्त हुई है, समस्त पदों से बचने का पूर्ण प्रयास रहा है, किन्तु प्रतिपादित विषय के अनुसार कुछ स्थलों पर इनका भी प्रयोग किया गया है, यद्यपि इसप्रकार के स्थल अत्यल्प ही हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

(क) **अव्याकृताख्यातामसम्भूतिमव्याकृताख्यां।**[4]

(ख) **तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं।**[5]

(6) ध्यातव्य है कि भाष्यकार 'ननु' पद का प्रयोग करके विपक्षी की ओर से शङ्का को प्रस्तुत करते हैं, उसके बाद निषेधार्थक 'न' निपात का कथन करके उसकी बात का निषेध करते हुए समाधान भी देते हैं, जिसे उनकी तार्किक शैली के उदाहरणरूप में देख सकते हैं, ऐसा यहाँ अनेक स्थलों पर हुआ है, जिसे प्रस्तुत मूल ग्रन्थ में देख सकते हैं।

---

1. मन्त्र संख्या– 1 पर शाङ्करभाष्य।
2. मन्त्र संख्या– 3 पर शाङ्करभाष्य।
3. मन्त्र संख्या– 8 पर शाङ्कर भाष्य ।
4. मन्त्र संख्या– 12 पर शाङ्कर भाष्य ।
5. मन्त्र संख्या– 14 पर शाङ्कर भाष्य ।

(xii) **ईशावास्योपनिषद् में प्रयुक्त भाषा शैली–**इस उपनिषद् की भाषा अत्यन्त सरल एवं भाव–बोधगम्य तथा प्रवाहपूर्ण प्रयुक्त हुई है, सम्भावित सन्धियों का प्रयोग यहाँ सर्वत्र किया गया है, जिसे सरल करने की दृष्टि से हमने यहाँ विच्छेद करके अन्वय में प्रस्तुत किया है। सभी मन्त्र पद्यरूप में प्रयुक्त हैं।

प्रायः दूसरी उपनिषदों में हम देखते हैं कि वहाँ पर अपनी बात पर बल देने या 'इतिहास प्रसिद्ध' बात का कथन करने हेतु विशेषरूप से 'ह' या 'ह वै' इन दोनों निपातों का एक साथ अथवा 'वै' निपात का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग किया गया है, किन्तु यहाँ पर इन निपातों का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है। भावों की सटीक अभिव्यक्ति के लिए दूसरे निपातों यथा स्वित्, इव, च, उ, मा, एव आदि का प्रयोग देख सकते है। अपनी बात पर बल देने हेतु ग्रन्थकार ने एक ही कथ्य का दो बार भी प्रयोग किया है।[1] इसप्रकार के स्थल को आचार्य शङ्कर ने आदर अर्थ में प्रयुक्त माना है।[2] आलङ्कारिक भाषा का प्रयोग करने का यहाँ पर ग्रन्थकार को अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ है, इसीलिए इव निपात का केवल एक बार ही उत्प्रेक्षा अर्थ में प्रयोग किया गया है।[3]

उल्लेखनीय है कि विषय की गम्भीरता को देखते हुए इस उपनिषद् में कुछ बातों की पुनरावृत्ति भी हुई है, जिसका हमने 'चन्द्रिका' व्याख्या में यथास्थान उल्लेख किया है, किन्तु फिर भी भाषा में निरन्तर प्रवाह देखा जा सकता है, जो वैदिक ऋषि के गहन चिन्तन तथा मनन का द्योतक है।

(xiii) **ईशावास्योपनिषद् का वर्ण्यविषय–** मात्र अट्ठारह मन्त्रों में पूर्ण हुए इस उपनिषद् में त्यागपूर्वक भोग, निष्काम कर्म, आत्मा का महत्त्व, एकत्व की भावना का फल, विद्या एवं अविद्या का सम्बन्ध, सम्भूति, असम्भूति तथा परमात्मा का स्वरूप, ये विषय वर्णित हैं, यहाँ

---

1. ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतं स्मर। 17
2. क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्। शाङ्कर भाष्य–17
3. मन्त्र संख्या– 9 ।

पर आत्मकल्याण के लिए ज्ञान तथा कर्म दोनों की अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार यह उपनिषद् वस्तुतः हमें दो प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करता है, **प्रथम,** ज्ञान दृष्टि तथा **द्वितीय,** निष्काम कर्मदृष्टि। इनमें से ज्ञान मार्गियों को ज्ञानी संन्यासियों के रूप में समझ सकते हैं, जबकि निष्कामभाव से कर्म को करने वाले साधक हैं, जो अपने आराध्य को ही सब कुछ अर्पित कर देते हैं।

इस उपनिषद् का वास्तविक उद्देश्य आत्मा के सच्चे रूप का उपदेश करना है। यही कारण है कि इसमें प्रथम मन्त्र एवं चतुर्थ मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक आत्मा के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। शेष मन्त्रों में कहा गया है कि व्यक्ति कामनाओं के कारण संसार से आबद्ध है, इसी को यह सच्चा आनन्द समझ लेता है तथा पुनर्जन्म के चक्र में पड़कर बार–बार कष्ट पाता है, किन्तु जब यह कामनाओं से पूर्णतया मुक्त हो जाता है और त्यागपूर्वक सांसारिक वस्तुओं को भोगता है तो ईश्वर क़ा चिन्तन करते हुए, ज्ञान के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा के सम्बन्धों को जानकर, उसी में तन्मय होकर विलीन हो जाता है, यही इस आत्मा का 'मोक्ष' है।

उपनिषद् के अन्तिम चार मन्त्रों में भावविभोर होकर की गयी परमात्मा की स्तुति[1] वस्तुतः वैदिक ऋषि के कोमलतम हृदय की परिचायक है। यद्यपि 'चन्द्रिका' व्याख्या में इस विषय का यथास्थान उल्लेख कर दिया है, इसलिए यहाँ पर पुनरावृत्ति भय से पुनः कथन नहीं किया जा रहा है।

(xiv) **ईशावास्योपनिषद् का मन्त्रानुसार विवरण**–यहाँ प्रयुक्त प्रत्येक मन्त्र का संक्षेप में विवरण इसप्रकार है–

1. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी स्थावर एवं जङ्गम संसार है, यह सभी परमेश्वर से व्याप्त है, इसलिए उस ईश्वर का स्मरण करते

[1] . मन्त्र संख्या 15, 16, 17, 18 ।

हुए, त्यागपूर्वक इसका भोग करना चाहिए, इसमें आसक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये भोग्य पदार्थ भला किसके हो सकते हैं?

2. इस संसार में शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए, इसप्रकार त्याग भाव से किए जाने वाले कर्म, तुम लोगों में लिप्त नहीं होंगे, जबकि इससे भिन्न मार्ग उचित नहीं है।

3. असुरों के नाम से प्रसिद्ध अनेक प्रकार की योनियों वाले लोक नरकरूप हैं, क्योंकि वे सभी दुःखरूप क्लेश के महान् अन्धकार से आच्छादित हैं, जो कोई भी अपनी आत्मा की हत्या करने वाले लोग हैं, वे सभी मरने के बाद उन्हीं भयंकर लोकों को प्राप्त होते हैं।

4. वे परमब्रह्म अचल और एक रहते हुए मन से भी अधिक तीव्र गति से युक्त हैं, सभी के आदि तथा ज्ञानस्वरूप हैं, इस परमात्मा को इन्द्रादि देवता भी प्राप्त नहीं कर सके हैं, वे परमेश्वर तो दूसरे दौड़ने वालों के स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनकी सत्ता से ही वायु आदि देवता, जलवर्षा आदि क्रिया करने में समर्थ हो पाते हैं।

5. वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते हैं, वे दूर हैं और अत्यधिक पास भी हैं, वे इस सम्पूर्ण संसार के अन्दर विराजमान हैं तथा इस जगत् के बाहर भी वे ही हैं।

6. किन्तु जो व्यक्ति परमात्मा में ही सभी प्राणियों को देखता है तथा सभी प्राणियों में परमेश्वर के दर्शन करता है, उसके बाद वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता है।

7. जिस स्थिति में परमब्रह्म को भलीप्रकार जानने वाले व्यक्ति के लिए सभी प्राणी परमात्म स्वरूप हो जाते हैं। उस अवस्था में एक मात्र परमात्मा का साक्षात् करने वाले व्यक्ति के लिए कैसा मोह? और कैसा शोक?

8. वह व्यक्ति उस परम तेजोमय, शरीर से रहित, व्रणादि से रहित, शिराओं से रहित, परमशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप, शुभ–अशुभ कर्मों से रहित, परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है, जो सर्वद्रष्टा, ज्ञान

स्वरूप, सर्वनियन्ता, स्वेच्छा से प्रकट होने वाले, अनादि काल से प्राणियों के कर्मानुसार संसार के पदार्थों की संरचना करते आए हैं।

9. जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे तो अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो व्यक्ति विद्या अर्थात् ज्ञान के मिथ्या अभिमान में ही निरत रहते हैं, वे तो मानो उससे भी अधिक गहन अन्धकार में डूबे रहते हैं।

10. ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान दूसरा ही फल कहते हैं तथा कर्मों के यथार्थरूप से करने से दूसरे ही फलों की प्राप्ति होती है, ऐसा हमने उन विद्वान् लोगों से सुना है, जिन्होंने हमें उस विषय की पूर्व में भलीभाँति व्याख्या की थी।

11. जो व्यक्ति उन दोनों विद्या तथा अविद्या को साथ–साथ यथार्थरूप में जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके, ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

12. जो लोग विनाशशील देव, पितर आदि की उपासना करते हैं, वे घोर अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जबकि जो अविनाशी परमात्मा में मिथ्याभिमान से निरत हैं, वे तो उनसे भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

13. विद्वान् लोग अविनाशी ब्रह्म की उपासना से दूसरा ही फल कहते हैं तथा विनाशशील देव–पितर आदि की उपासना से दूसरा ही फल बताते हैं, हम इसप्रकार धीर पुरुषों के वचनों को सुनते आए हैं, जिन्होंने हमें उस विषय की व्याख्या करके भलीप्रकार समझाया था।

14. जो व्यक्ति उन दोनों अर्थात् अविनाशी परमात्मा तथा विनाशशील देवादि को एक साथ ही यथार्थरूप से जान लेता है, वह विनाशशील देवादि की उपासना से मृत्यु को पार करके, अविनाशी परमेश्वर की उपासना द्वारा अमृतत्व का प्राप्त कर लेता है।

15. हे सभी का भरण–पोषण करने वाले, परमात्मन्! सत्य स्वरूप आपका मुख, ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल रूप पात्र द्वारा आच्छादित है, सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझे दर्शन कराने के लिए आप उस आवरण को हटा लीजिए।

16. हे सभी का पोषण करने वाले, ज्ञानस्वरूप, सभी का नियन्त्रण करने वाले, ज्ञानियों के लक्ष्यरूप, प्रजापति के प्रिय! अपनी रश्मियों को एकत्र कीजिए, अपने इस तेज को सिमेट लीजिए, जो आपका अत्यधिक कल्याणमय स्वरूप है, आपके उस दिव्यरूप को मैं देख रहा हूँ, जो वह सूर्य का आत्मा है, वह परमपुरुष आपका ही स्वरूप है और मैं भी वही हूँ।

17. इसके बाद अब मेरे प्राण तथा इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि रूप वायु में प्रविष्ट हो जाएँ और यह स्थूल शरीर अग्नि में प्रवेश करके भस्म हो जाए, हे सच्चिदानन्दघन, यज्ञमय प्रभु! आप मुझे स्मरण कीजिए, मेरे द्वारा किए गए कर्मों को स्मरण कीजिए। हे यज्ञमय प्रभो! आप मुझे स्मरण कीजिए, मेरे द्वारा किए गए कर्मों को स्मरण कीजिए।

18. हे अग्निदेवता! हमें परम ऐश्वर्यरूप परमात्मा की शरण में ले जाने के लिए, शुभ मार्ग से ले चलिए, हे देव! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं, इसलिए हमारे मार्ग के प्रतिबन्धक पापों को दूर कीजिए, हम आपके लिए अत्यधिक बार–बार नमस्कार वचनों का कथन करते हैं।

(xv) **ईशावास्योपनिषद् का महत्त्व–** मात्र अट्ठारह मन्त्रों के माध्यम से यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के आध्यात्मिक अर्थ को अपने में संजोए हुए है, क्योंकि यहाँ पर त्यागपूर्वक भोग, निष्काम कर्म, आत्मा का महत्त्व, एकत्व की भावना का फल, विद्या एवं अविद्या का सम्बन्ध तथा परमात्मा का स्वरूप आदि अनेकानेक विषयों पर संक्षिप्त किन्तु गहन चर्चा की गयी है, इसलिए सभी उपनिषदों में इस उपनिषद् का ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है, यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त और सरल शैली में परमब्रह्म के स्वरूप के विषय में सूक्ष्मतम उल्लेख ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु की अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं की निवृत्ति के लिए किया गया है।

इस उपनिषद् का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि अत्यधिक लघु आकार का होने पर भी उवट, महीधर, अनन्तभट्ट, अनन्ताचार्य, आनन्दगिरि तथा आचार्य शङ्कर आदि अनेक विद्वान्

आचार्यों ने इस उपनिषद् पर अपने-अपने भाष्यों की संरचना की, इनके अतिरिक्त इसी उपनिषद् के ऊपर दो अन्य टीकाएँ रहस्य दीपिका तथा विवृत्ति भी मिलती हैं, जो इसके महत्त्व में श्रीवृद्धि करने वाली हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी अनेक उपनिषदों के समान ही, श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर भी इस उपनिषद् का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि इस उपनिषद् के अनेक मन्त्रों के अभिप्राय को ग्रहण करके ही गीता में अनेक श्लोकों की प्रस्तुति हुई है, जो इस उपनिषद् के महत्त्व को ही इङ्गित करती है।

इसी प्रसङ्ग में ध्यातव्य यह भी है कि शाङ्करभाष्य ने इसकी अनेक गुत्थियों को सुलझाकर इसे अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी बना दिया है। उल्लेखनीय है, यहाँ पर स्वर्ग प्राप्ति की चर्चा नहीं की गयी है, क्योंकि इसका अन्तिम लक्ष्य तो ब्रह्मप्राप्ति रहा है, जिससे पुनः इस संसार में आना न पड़े, यही तो जीवात्मा की मुक्ति या मोक्ष है।

यहाँ मोक्ष का अभिप्राय सांसारिक दुःखों जन्म-मरण आदि से पूर्णतया मुक्त होकर, अपने कारणरूप परम ब्रह्म में लीन हो जाने से रहा है, इसलिए आत्मज्ञान के प्रत्येक जिज्ञासु को इस उपनिषद् का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

अन्त में संक्षेप में कहा जा सकता है कि ईशावास्योपनिषद् वस्तुतः अथाह ज्ञानराशि का भण्डार है, जिसमें विभिन्न दर्शनों के अनुयायी अपने-अपने विचारों रूप रत्नों का अन्वेषण करते रहे हैं, क्योंकि इस उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य परमब्रह्म परमात्मा है, जिसे प्राप्त करने के लिए वैराग्यभाव का सन्देश दिया गया है। सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में वस्तुतः यही तत्त्व अन्तर्निहित है। इसलिए इस उपनिषद् का दूसरी उपनिषदों के समान ही अत्यधिक महत्त्व है।

•••

।।ऊँ।।

ब्रह्मणे नमः

ईशावास्योपनिषद्

मङ्गलाचरणम्

अवतरणिका-ग्रन्थ के आरम्भ में वैदिक ऋषि **मङ्गलाचरण का उल्लेख** करते हुए कहते हैं कि-

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदंपूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
।।ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वय- ओम्, अदः पूर्णम्, इदम् पूर्णम्, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते, पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते।

अनुवाद- वे परमपिता परमात्मा, सभी प्रकार से पूर्ण हैं, यह संसार भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण परमब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष बचता है।

'चन्द्रिका'-वह सच्चिदानन्द परमब्रह्म सभी प्रकार से हमेशा ही पूर्ण है और यह ब्रह्माण्ड रूप संसार भी उसी परमपिता परमेश्वर से ही पूर्ण है, क्योंकि यह पूर्ण संसार उसी पूर्ण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसप्रकार परब्रह्म की पूर्णता के माध्यम से यह जगत् भी वैसा ही पूर्ण है, इसलिए वह ब्रह्म परिपूर्ण हुआ। वस्तुस्थिति तो यह है कि सर्वथा पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही बचता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

विशेष-(i) मन्त्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'ऊँ' पद **परमात्मावाची है,** उसी का प्रथम प्रयोग करने से यहाँ **मङ्गलकामना की गयी है।**

(ii) यह मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् (5/1/1) से लिया गया है, इसका प्रयोग शुक्ल यजुर्वेदीय सभी उपनिषदों के शान्तिपाठ में किया गया है। यहाँ परमब्रह्म की पूर्णता को प्रदर्शित किया गया है।

(iii) तीन बार 'शान्ति' का प्रयोग, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकार के संताप की शान्ति के लिए किया गया है।

(iv) गणित विज्ञान की दृष्टि से यह कथन अनुचित सा प्रतीत होता है, किन्तु परमब्रह्म के प्रसङ्ग में अक्षरशः सही है, क्योंकि वह तो एक सागर है, उससे एक बूँद निकालने पर भी वह पूर्ण ही रहता है।

(v) फिर वह आत्मा रूपी बूँद भी तो उसी का अंश है, इसलिए उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, प्रलयकाल में यह फिर से उसी में जाकर मिल जाता है अर्थात् एकाकार हो जाता है।

(vi) इसीप्रकार एक ज्ञानी से दूसरे अनेक ज्ञानवान् हो जाते हैं, किन्तु इससे प्रथम ज्ञानी के ज्ञान में कोई कमी नहीं आती है।

(vii) कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करना सुदीर्घ भारतीय परम्परा रही है, यहाँ उसी का निर्वहण किया गया है।

टिप्पणी– (i) **आदाय–** आ+√दा(डुदाञ दाने)+क्त्वा (ल्यप्)।

(ii) **अवशिष्यते**–अव+√शिष्, लट्, कर्म., प्रथमपुरुष, एकवचन।

सम्बन्ध–भाष्य

शाङ्करभाष्य– 'ईशा वास्यम्' इत्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्यतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यम् उत्पाद्यं विकार्यम् आप्यं संस्कार्यं वा कर्तृभोक्तृरूपं वा, येन कर्मशेषता स्यात्; सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्, गीतानां मोक्षधर्माणां चैवम्परत्वात्। तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि च अशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि।

भाष्यानुवाद– 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं किया गया है, क्योंकि वे आत्मा के यथार्थरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं, जो वस्तुतः कर्म का शेष नहीं है। आत्मा का शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व एवं सर्वगतत्व आदि यथार्थरूप आगे कहा जाएगा। इसका कर्म के साथ में विरोध है, इसलिए इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न होना उचित ही है।

इसप्रकार के लक्षणों वाला आत्मा का यथार्थ स्वरूप उत्पाद्य, विकार्य, आप्य, संस्कार्य अथवा कर्ता–भोक्तारूप नहीं है, जिससे वह कर्म का शेष हो सके। सभी उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में ही होती है, यहाँ तक कि गीता एवं मोक्ष धर्मों का भी इसी में अभिप्राय है, इसलिए सामान्य लोगों की बुद्धि से सिद्ध होने वाले, आत्मा के अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अशुद्धत्व एवं पापमयत्व को दृष्टि में रखते हुए ही यहाँ पर कर्मों का विधान किया गया है।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिना अदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणत्वकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति।

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविककर्मविज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्ति–साधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्तीति। एवमुक्ताधिकार्याभिधेयसम्बन्ध–प्रयोजनान् मन्त्रान्सङ्क्षेपतो व्याख्यास्यामः।

भाष्यानुवाद– कर्म के अधिकार के ज्ञाताओं का भी इस विषय में यही कहना है कि जो व्यक्ति ब्रह्मतेज आदि दृष्ट एवं स्वर्गादि अदृष्ट कर्म के फलों का अभिलाषी है तथा मैं द्विजाति हूँ और कर्म के अनधिकार सूचक कानेपन, कुबड़ेपन आदि धर्मों से युक्त नहीं हूँ', ऐसा अपने आपको मानता है, वही वस्तुतः कर्म का अधिकारी है।

इसलिए ये मन्त्र आत्मा के यथार्थरूप को प्रकाशित करके, आत्मा विषयक स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए, संसार के शोक, मोह आदि धर्मों के विच्छेद के साधन स्वरूप, आत्मा के एकत्व आदि विज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार जिनके मुमुक्षुरूप अधिकारी, आत्मा के ऐक्यरूप विषय और प्रतिपाद्य–प्रतिपादक रूप सम्बन्ध एवं अज्ञान

की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप प्रयोजन, इन सभी का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उन्हीं मन्त्रों की अब हम अत्यन्त संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **संसार को ब्रह्मरूप परमेश्वर से व्याप्त बताते हुए, संसार की वस्तुओं को त्यागपूर्वक भोग करने** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

ॐ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।1।।

अन्वय– ॐ जगत्याम् यत् किम् च जगत् (विद्यते), इदम् सर्वम् ईशा वास्यम्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, धनम् कस्य स्वित्?।।1।।

अनुवाद– सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, जो कुछ भी स्थावर एवं जङ्गम संसार है, यह सभी परमेश्वर से व्याप्त है (वास्यम्), इसलिए उस ईश्वर का स्मरण करते हुए, त्यागपूर्वक इसका भोग करना चाहिए, इसमें आसक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये भोग्य पदार्थ भला किसके हो सकते हैं?।।1।।

'चन्द्रिका'– इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी चराचर जगत् दिखायी दे रहा है अथवा शास्त्रादिकों एवं योगियों के माध्यम से सुनने में आता है, वह सब सर्वशक्तिमान्, सर्वकल्याणमय, गुणरूप, परमपिता परमेश्वर से ही व्याप्त है, क्योंकि इसका एक कण भी ऐसा नहीं है, जिसमें उस परमब्रह्म की उपस्थिति न हो। इसका कारण यही है कि इस संसार की उत्पत्ति उसी परमेश्वर से हुई है।

इसलिए हमें चाहिए कि हम इस संसार की सभी वस्तुओं का भोग, उनमें ममत्व एवं आसक्ति न करके, उस परमब्रह्म को स्मरण करते हुए ही करते रहें, कभी भी उसे विस्मृत न करें। दूसरे शब्दों में, केवल कर्तव्यपालन की दृष्टि से ही इन सांसारिक विषयों का उपभोग करें, उनमें लिप्त न हों। इस संसार में कर्म करने के प्रति यही भावना होनी चाहिए कि परमेश्वर ने ही हमें इस कार्य में नियोजित किया है, **इसलिए इस कर्म को करना ईश्वर की ही पूजा है।**

वस्तुतः भूलकर भी व्यक्ति को सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व की भावना नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि यह सब कुछ तो उस परमपिता परमेश्वर का ही है, इसलिए इनका उपभोग उसी की प्रसन्नता के लिए निरपेक्ष भाव से किया जाना चाहिए।

विशेष–(i) 'स्वित्' निपात को आचार्य शङ्कर ने निरर्थक बताया है, किन्तु यहाँ इसे 'प्रश्न' अर्थ में प्रयुक्त मानना सङ्गत प्रतीत होता है।

(ii) गीता (9/4, 10/39, 42) में भी संसार के परमेश्वर से व्याप्त होने की बात का कथन किया गया है।

(iii) समस्त सांसारिक भोग्य पदार्थों को परमेश्वर का रूप मानकर, उनके प्रति आसक्ति न करने तथा उनका त्यागपूर्वक भोग करने की बात का उल्लेख किया गया है, जिससे व्यक्ति उन कर्मों में लिप्त नहीं होता है और उसे उन कर्मों के फलों को भोगना नहीं पड़ता है, जिसके कारण उसे अन्त में ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति होती है।

(iv) सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व की भावना न करना अर्थात् ये मेरे हैं, मैं इनका भोग कर रहा हूँ, यह चिन्तन ही व्यक्ति को उन भोगों तथा कर्मों से जोड़ता है, ये सभी पदार्थ परमेश्वर रूप हैं, मुझे ईश्वर ने इस संसार में इस कार्य में नियोजित किया है, इसलिए मुझे उसका स्मरण करते हुए, इन्हें सम्पन्न करना चाहिए, यही विचार व्यक्ति को श्रेय देने वाला अर्थात् मुक्ति की ओर ले जाने वाला है।

(v) यहाँ 'गृधः' से अभिप्राय 'आसक्ति' से ग्रहण करना चाहिए।

(vi) 'धनम्' पद 'ऐश्वर्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् ये सभी सांसारिक भोग्य पदार्थ परमेश्वररूप होने से उसके अतिरिक्त भला (स्वित्), किसके हो सकते हैं? इसलिए इन सबका स्वामी भी वही है, अतः जो दूसरे का है अर्थात् ईश्वर का है, उसके प्रति 'यह मेरा है' ऐसी लालसा या 'गिद्ध–दृष्टि' रखना भी सर्वथा अनुचित है, यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

(vii) सांसारिक कर्मों को करने में परमेश्वर की प्रसन्नता **विषयक चिन्तन, जीवात्मा को ईश्वर से जोड़ने वाला तथा संसार से मुक्त करने वाला है, ग्रन्थकार का यही अभिप्राय है।**

(viii) इस उपनिषद् में मुख्यरूप से वैदिक अर्थात् वार्णिक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु जगती (8) उष्णिक् (15) गायत्री (17) और त्रिष्टुप् (18) आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अनुष्टुप् छन्द के चार चरणों में से प्रत्येक में आठ–आठ वर्ण होते हैं।

टिप्पणी– (i) **ईशा–** √ईश् (ईशा ऐश्वर्ये)+क्विप्, तृ.वि.,एकवचन।

(ii) **वास्य–** √वस्(आच्छादने)+यत्, 'असि यत्' सूत्र से।

(iii) **भुञ्जीथाः–** √भुज्+विधिलिङ्, आत्मने, मध्यमपुरुष, एकवचन।

(iv) **जगत्याम्–** जगत्+ङीप्=जगती, सप्तमी, एकवचन।

शाङ्करभाष्य– ईशा ईष्टे, इति ईट्, तेन ईशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन् प्रत्यगात्मतया। तेन स्वेन रूपेणात्मना ईशा वास्यम् आच्छादनीयम्।

किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चित् जगत्यां पृथिव्यां जगत् तत्सर्वम्। स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतया अहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणामृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

भाष्यानुवाद– जो शासन (ईशन) करे, उसे 'ईट्' कहा जाता है, उसी का तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। परमेश्वर ही सभी का 'ईशन' करने वाला है। वही सभी जीवों का आत्मा होकर, अन्तर्यामी रूप से सभी का 'ईशन' करता है, इसप्रकार के उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईश से सभी वास्य अर्थात् आच्छादन के योग्य हैं।

इसके बाद क्या आच्छादन योग्य है? इस विषय में कहते हैं। यह सब कुछ जो जगती अर्थात् पृथिवी पर संसार अर्थात् स्थावर जङ्गम प्राणिवर्ग है, वह सब अपने आत्मा ईश्वर से अर्थात् अन्तर्यामी रूप से, यह सब कुछ वस्तुतः 'मैं ही हूँ' ऐसा मानकर अपने परमार्थ सत्यरूप परमात्मा से यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करने योग्य है।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत् स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद् द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्, जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्।

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासे एवाधिकारः, न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावादात्मानं पालयति। अतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः। भुञ्जीथाः पालयेथाः।

भाष्यानुवाद– जिसप्रकार चन्दन एवं अगरू आदि के जल आदि के साथ सम्बन्ध से होने वाले गीलेपन आदि के कारण उत्पन्न हुई औपाधिक दुर्गन्ध, उस चन्दनादि को घिसने से उसकी पारमार्थिक गन्ध से ढ़क जाती है, ठीक उसीप्रकार अपने आत्मा में आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व आदि लक्षणों वाला, द्वैतरूप संसार, जगती अर्थात् पृथिवी में अर्थात् यहाँ प्रयुक्त 'जगत्याम्' यह पद स्थावर तथा जङ्गम सभी के उपलक्षण वाला होने से, इस परमार्थ सत्यरूप आत्मा की भावना से नामरूप एवं कर्ममय होकर, सम्पूर्णरूप से विकारजात होने से परित्याग करने योग्य हो जाता है।

इसप्रकार जो ईश्वर ही सम्पूर्ण चराचर जगत् का आत्मा है अर्थात् ऐसी भावना से युक्त है, उसका पुत्र आदि तीनों प्रकार की ऐषणाओं के परित्याग में ही अधिकार है, कर्म में नहीं। उससे त्यक्त अर्थात् त्याग के माध्यम से आत्मा का पालन करना चाहिए, क्योंकि त्यागा हुआ या फिर मरा हुआ पुत्र अथवा सेवक अपने सम्बन्ध का अभाव होने से अपना पालन नहीं करता है, इसलिए त्याग से भोग अर्थात् पालन कर, यही इस श्रुति का अर्थ है।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिम् आकाङ्क्षां मा कार्षीः धनविषयाम्। कस्य स्वित् धनं कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः।

अथवा, मा गृधः। कस्मात्? कस्य स्विद्धनम् इत्याक्षेपार्थः। न कस्यचिद्धनमस्ति, यद्गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तम्। अत आत्मन एवेदं सर्वम्, आत्मैव च सर्वम्। अतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः।।1।।

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतया आत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्य अनात्मज्ञतयात्मग्रहणायाशक्तस्य इदमुपदिशति मन्त्रः–

भाष्यानुवाद–इसप्रकार सभी प्रकार की ऐषणाओं से रहित होकर, तू 'गर्द्ध' अर्थात् धन सम्बन्धी आकांक्षा मत कर। किसी के धन की अर्थात् अपने या पराए किसी के भी धन की अभिलाषा मत कर। यहाँ 'स्वित्' निपात अनर्थक है।

अथवा आकांक्षा न कर, क्योंकि यह धन तो भला किसका है? इसप्रकार इसका आक्षेपसूचक अर्थ भी सम्भव है। कहने का तात्पर्य है कि धन तो किसी का भी नहीं है, जो उसकी इच्छा की जाए। यह तो सब कुछ आत्मा है। इसप्रकार ईश्वर भावना करने से यह सब परित्याग के योग्य हो जाता है। अतः यह सब कुछ आत्मा से उत्पन्न हुआ एवं सभी कुछ आत्मरूप होने के कारण मिथ्या पदार्थ विषयक आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, यह भी अभिप्राय है।।1।।

इसप्रकार उपर्युक्त श्रुति का यही अर्थ है कि आत्मवेत्ता को पुत्र आदि एषणात्रय का परित्याग करते हुए, ज्ञाननिष्ठ रहकर ही आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। इसके बाद जो आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ दूसरा अनात्मज्ञ व्यक्ति है, उसके लिए यह दूसरा मन्त्र कहा जा रहा है।

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **अहङ्कार को त्यागकर परमात्मा के प्रति समर्पण भाव से कर्म करने** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।

अन्वय– इह कर्माणि कुर्वन् एव शतम् समाः जिजीविषेत्, एवम् कर्म त्वयि नरे न लिप्यते, इतः अन्यथा न अस्ति ।।२।।

अनुवाद– इस संसार में शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए, इसप्रकार त्यागभाव से किए जाने वाले कर्म, तुम लोगों में लिप्त नहीं होंगे, जबकि इससे भिन्न मार्ग उचित नहीं है।।२।।

'चन्द्रिका'–'कर्मों' से अभिप्राय यहाँ शास्त्रों में कहे गए अग्निहोत्र आदि नित्य नैमितिक 'कर्तव्य कर्मों' से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि परमात्मा के स्मरण के लिए अग्निहोत्रादि भी एक माध्यम है, किन्तु फिर भी अपनी प्रत्येक क्रिया को परमात्मा की अनुकम्पा के रूप में, उसी के द्वारा दी गयी शक्ति से किए जाने विषयक चिन्तन भी हमें परमात्मा से जोड़ने वाला है, ऐसा करने से जीवात्मा की मुक्ति का द्वार खुल जाता है और दीर्घायु की प्राप्ति भी होती है।

जिन कार्यों में ईश्वर द्वारा नियोजित किया गया है, उन्हें प्रतिक्षण उसका चिन्तन करते हुए कर्तव्य भावना से करना ही ईश्वर की पूजा है, इसीलिए दैनिक जीवन में समर्पण भावना से किए गए, कर्म को 'पूजा' संज्ञा भी दी गयी है। साथ ही, किए गए कर्म के प्रति 'मैं इसका करने वाला नहीं हूँ' ऐसा भाव न रखना भी व्यक्ति को कर्मों से लिप्त नहीं करता है, जिससे उसे इन कर्मों के फलों की प्राप्ति नहीं होती है। अभिप्राय यही है कि 'तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मेरा' यही चिन्तन प्रतिक्षण व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए, क्योंकि प्रथमतः तो यह मानव शरीर ही ईश्वर ने अत्यधिक कृपापूर्वक प्रदान किया है, तो फिर इसके द्वारा किए गए कर्म भला हमारे कैसे हो सकते है? वे सब भी तो उसी ईश्वर द्वारा किए गए हैं, हम तो निमित्तमात्र हैं।

इसप्रकार के चिन्तन के साथ यदि व्यक्ति इस संसार में अपने करणीय कर्मो को करता है, तो निश्चय ही, उसे परमेश्वर की प्राप्ति होगी अर्थात् जिसका वह अंश है, उसी में विलीन हो जाएगा, उसे इस सांसारिक चक्र से मुक्ति की प्राप्ति होगी, किन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता है और स्वयं को अपने द्वारा किए जाने वाले कामों को करने वाला ही मानता है, तो ऐसा करने पर वह कर्मों से सम्बद्ध होने से इनसे प्राप्त होने वाले पाप या पुण्य के फलों को प्राप्त करने वाला होगा और उन्हें भोगने के लिए, उसे बार–बार शरीर धारण करना होगा, जो उसे संसार–चक्र में बाँधने वाला है।

विशेष—(i) वेदों में परमात्मा से अनेकशः सौ वर्ष जीने की प्रार्थना की गयी है, **जीवेम शरदः शतम्,** इति।

(ii) यदि व्यक्ति अपने सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पित कर देगा और सांसारिक भोग्य पदार्थों में ईश्वर का चिन्तन करते हुए उनका त्याग भावना से भोग करेगा, तो वह अपने वर्तमान तथा भविष्य के प्रति पूर्णतया 'निश्चिन्त' होने से स्वतः ही सौ वर्ष की आयु प्राप्त करेगा, क्योंकि अनेक प्रकार के मानसिक तनाव ही व्यक्ति की आयु को कम करने वाले हैं।

(iii) परमात्म चिन्तन के साथ 'निष्काम' कर्म करने की बात कही गयी है, जिससे व्यक्ति कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

(iv) इसप्रकार के चिन्तन के कारण व्यक्ति का झुकाव शुभ कर्मों को करने का ही होगा, अशुभ कर्मों को वह नहीं करेगा, इससे भी उसके कल्याण प्राप्ति की सम्भावना ही प्रबल होती है।

(v) अपने जीवन का निमित्त मानकर, जिन कर्मों को व्यक्ति प्रतिदिन करता है, वे नित्य–कर्म कहे जाते हैं, **जैसे–** प्रतिदिन सन्ध्या, उपासना और अग्निहोत्रादि करना।

(vi) इसीप्रकार किसी निमित्त विशेष के उपस्थित होने पर जिन कर्मों का विधान करते हैं, वे नैमित्तिक कर्म कहे गए हैं, **जैसे–** ग्रहण लगने पर स्नानादि करना।

(vii) मनुस्मृति (11/44) में नित्य–नैमित्तिक कर्मों के न करने से पाप प्राप्ति तथा उसके लिए प्रायश्चित्त करने की बात की गयी है, प्रायश्चित्त कर्मों को पाप–क्षय का कारण माना गया है।

(viii) कठोपनिषद् में श्रेय तथा प्रेय दो मार्गों का उल्लेख किया है, जिनमें परमात्म चिन्तन और त्यागपूर्वक कर्म ही वस्तुतः श्रेयमार्ग है, जबकि सांसारिक विषयों में 'ये मेरे हैं, मैं इनका भोग करने वाला हूँ', उन्हें भोगते हुए सुख या दुःख की अनुभूति ही, प्रेयमार्ग है, जो बन्धन में डालना वाला है, इसीलिए यहाँ इसका निषेध किया गया है।

(ix) गीता (2/50, 51, 5/10) में भी कर्म में लिप्त न होने और निष्काम भाव से कर्म करने की भूरिशः प्रशंसा की गयी है।

टिप्पणी– (i) **लिप्यते–** √लिप्+लट्लकार, कर्मवाच्य, प्र.पु.,ए.व.। (ii) **अस्ति–** √अस्+लट्, प्र.पु., ए.व.। **कुर्वन्–** √कृ+शतृ,प्र,वि.ए.व.। (iii) **कुर्वन्नेव–** कुर्वन्+एव, न के बाद स्वर होने से 'न्' आगम।

शाङ्करभाष्य– कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माणि अग्निहोत्रादीनि। जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत् शतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्। तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते।

एवम् एवं प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनि, इतः एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारात् अन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति, येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते; कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।।2।।

भाष्यानुवाद—इस संसार में अग्निहोत्र आदि कर्म करते हुए ही एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की अभिलाषा करे, क्योंकि व्यक्ति की बड़ी से बड़ी आयु इतनी ही कही गयी है। इसलिए प्राप्त हुई उस आयु का अनुवाद करते हुए ही यह विधान किया गया है कि यदि सौ वर्ष पर्यन्त जीवन की इच्छा करे तो कर्म करते हुए जीवित रहना चाहिए।

इसप्रकार जीवित रहने की इच्छा करने वाले तुझ व्यक्ति अर्थात् मनुष्य मात्र का अभिमान करने वाले के लिए, इस अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्म करते हुए ही आयु व्यतीत करने के वर्तमान प्रकार से भिन्न अन्य कोई भी ऐसा प्रकार नहीं है, जिसके द्वारा अशुभ कर्म का लेप न हो अर्थात् जिससे वह व्यक्ति अपने कर्मों से लिप्त न हो। अतः अग्निहोत्र आदि शास्त्रों में बताए गए, कर्मों को करते हुए ही जीवित रहने की अभिलाषा करे।

कथं पुनरिदमवगम्यते । पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति?

उच्यते, ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्? इहाप्युक्तम् 'यो हि जिजीविषेत् स कर्माणि कुर्वन्नेव इति;' 'ईशावास्यमिदं

सर्वम्', 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' इति च। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियात् इति च पदम्। ततो न पुनरियात्' इति च संन्यासशासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति।

भाष्यानुवाद–शङ्का– आपने भला यह किस प्रकार जान लिया कि पूर्व मन्त्र में संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा का और दूसरे मन्त्र में संन्यास में असमर्थ व्यक्ति की कर्मनिष्ठा का वर्णन किया गया है?

समाधान– कहते हैं कि क्या आपको स्मरण नहीं है कि जैसा पूर्व में सम्बन्ध–भाष्य में कहा जा चुका है कि ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है, इसलिए यहाँ भी जो जीवित रहने की इच्छा करे, वह कर्म करते हुए ही करे। इसके अतिरिक्त यह सब कुछ ईश्वर द्वारा आच्छादन करने योग्य है,' 'उस चराचर जगत् के त्याग के माध्यम से आत्मा की रक्षा करनी चाहिए,' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्मी एवं संन्यासी की निष्ठाओं का भेद ही यहाँ पर निरूपित किया गया है। इसके बाद इन दोनों निष्ठाओं के फल के भेद को भी बताएँगे।

'इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणा त्रयस्य त्यागः; तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति।

'न्यास एवात्यरेचयत्' (तै.नारा. ७८) **इति तैत्तिरीयके।**

'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः'।। (महा.शा. २४१।६)

इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता। विभागं चानयोः प्रदर्शयिष्यामः।।२।।

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते–

भाष्यानुवाद– ये दोनों ही मार्ग सृष्टि के आरम्भ से ही परम्परागत हैं। इनमें भी सर्वप्रथम कर्ममार्ग है और उसके बाद संन्यास मार्ग। संन्यासरूप निवृत्तिमार्ग में तीनों एषणाओं का परित्याग करते हैं, किन्तु इन दोनों मार्गों में संन्यास मार्ग ही उत्कर्ष को देने वाला है। तैत्तिरीय श्रुति में भी कहा गया है कि– 'संन्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ।' वेदाचार्य भगवान् वेदव्यास ने भी भलीप्रकार सोचविचार कर ही अपने पुत्र से यह बात कही थी कि–

'जिसमें वेद प्रतिष्ठित हैं, ऐसे ये दो ही मार्ग हैं, इनमें एक तो प्रवृत्ति लक्षण वाला धर्ममार्ग है, जबकि दूसरा भलीप्रकार भावना किया हुआ निवृत्तिमार्ग है।'

इन दोनों का विभाग हम आगे प्रदर्शित करेंगे। इसके बाद अज्ञानी की निन्दा करने के लिए यह तृतीय मन्त्र आरम्भ किया जा रहा है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **विपरीत मार्ग पर चलने से लोगों की गति** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

अन्वय– असुर्याः नाम लोकाः, ते अन्धेन तमसा आवृताः,ये के च आत्महनः जनाः, ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति।।३।।

अनुवाद–असुरों के नाम से प्रसिद्ध अनेक प्रकार की योनियों वाले लोक नरकरूप हैं, क्योंकि वे सभी दुःखरूप क्लेश के महान् अन्धकार से आच्छादित हैं, जो कोई भी अपनी आत्मा की हत्या करने वाले लोग हों, वे सभी मरने के बाद उन्हीं भयंकर लोकों को प्राप्त होते हैं।।3।।

'चन्द्रिका'– ऊपर बताए हुए मार्ग से सर्वथा विपरीत जो लोग अन्य योनियों की अपेक्षा सर्वथा उत्कृष्ट इस मानव शरीर को प्राप्त करके भी अपने सभी प्रकार के कर्मों को ईश्वर को समर्पित न करके, काम एवं दूसरे सांसारिक पदार्थों के उपभोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानकर, इनमें पूर्णतया आसक्त होकर, कामनावश इनका भोग करते रहते हैं, वे सभी वस्तुतः अपनी आत्मा की हत्या करने वाले हैं, जिसके परिणाम स्वरूप इन लोगों को मरने के बाद कूकर, शूकर, कीट, पतङ्गादि विभिन्न प्रकार की शोक एवं संताप से युक्त आसुरी योनियों और भयानक नरक में भी भटकना पड़ता है, जो आसुरी स्वभाव वाले दुष्ट लोगों के लिए निश्चित किए गए हैं।

वस्तुस्थिति तो यह है कि ऐसा करके वे लोग अपने इस अमूल्य जीवन को ही व्यर्थ नहीं कर रहे हैं, अपितु अपने आपको अपेक्षाकृत अधिक दृढ़रूप से कर्मबन्धन में जकड़ रहे हैं। ऐसे भोग परायण लोगों को प्रत्यक्षरूप से देखने पर उन्हें भले ही कितनी भी प्रशंसा या यश की प्राप्ति क्यों न हो रही हो, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वे आसुरी योनियों में भटकने का ही प्रयास कर रहे हैं।

विशेष–(i) नरकादि लोकों को यहाँ अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छन्न बताया गया है, इसीलिए गीता (6/5, 16/16, 19, 20) में भगवान् श्रीकृष्ण ने आसुरी योनियों तथा विभिन्न प्रकार के तमाच्छन्न नरकों में भटकने की बात करते हुए, व्यक्ति के लिए स्वयं अपना उद्धार करने की बात की है।

(ii) अभिप्राय यही है कि यह मन्त्र ऐसे लोगों के विषय में कथन कर रहा है, जो कर्मशील होने के साथ–साथ सकामी भी हैं, उन्होंने आत्मस्वरूप को आत्मसात् नहीं किया है, ऐसे लोग ही विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ आत्महत्या करने वाला कहा गया है।

(iii) भारतीय परम्परा 'अज्ञान से युक्त लोगों द्वारा अपने पूर्व जन्मों के फलों को भोगने की दृष्टि से उनके पुनर्जन्म को स्वीकार करती है,' यहाँ इस तथ्य की पुष्टि की गयी है।

(iv) मानव योनि को भोग योनि तथा कर्म योनि दोनों ही कहा जाता है। इस दृष्टि से यही एकमात्र योनि है, जिसमें व्यक्ति को संसार रूपी सागर से पार उतरने का अवसर प्राप्त होता है।

(v) उल्लेखनीय है कि यहाँ पर अन्धकार का अभिप्राय सामान्य अन्धकार से न होकर अज्ञानरूपी अन्धकार से ग्रहण करना चाहिए। मन्त्र में इसकी तुलना नरक से की गयी है।

(vi) नरक के विषय में महाभारत तथा पुराणों में विस्तार से वर्णन किया गया है, जहाँ पर पापकर्म करने वाले लोग विभिन्न प्रकार की यातनाएँ प्राप्त करते हैं।

(vii) इस मन्त्र में मानव के दो रूपों का निर्देश किया गया है, **प्रथम**, वे लोग जो अज्ञान के वशीभूत होकर स्वयं को जाने बिना ही जीवनयापन करते हुए सांसारिक भोगों में लिप्त हैं, **द्वितीय,** वे जो ज्ञान से आलोकित होकर आत्मतत्त्व को जानने का प्रयास करते हैं।

टिप्पणी–(i)**प्रेत्य**–प्र+ √इ+क्त्वा (ल्यप्) **आवृताः**–आ+ √वृत्+क्त।

(ii) **अभिगच्छन्ति**– अभि+ √गम्+लट्लकार, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

(iii) **असुर्या**– असुर+यत्, असुराय हिता, इति, प्र.वि., बहुवचन।

शाङ्करभाष्य– असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः, तेषां च स्वभूता लोका असुर्या नाम। <u>नामशब्दोऽनर्थको निपातः</u>।

ते लोकाः कर्मफलानि, लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेन अदर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसा आवृताः आच्छादिताः। तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहम् अभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।

भाष्यानुवाद– अद्वय परमात्मा की अपेक्षा से देवता आदि भी असुर ही हैं तथा उनके सम्पत्तिरूप लोक 'असुर्य' हैं। नाम पद यहाँ अनर्थक निपात है।

जिनमें कर्म के फलों का लोकन अर्थात् दर्शन यानी भोग होता है, वे लोक अर्थात् जन्म विषयक योनियाँ, अन्ध अर्थात् अदर्शनात्मक तम अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित हैं, वे इस शरीर का त्याग करके, अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार उन ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त योनियों में ही जाते हैं।

<u>आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनाः</u>। के ते जनाः, येऽविद्वांसः। कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्। विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनादि–लक्षणम्, तत् हतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन इत्युच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते।।3।।

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति, तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते नात्महनः, तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते–

भाष्यानुवाद– इसके अतिरिक्त जो लोग आत्मा का घात अर्थात् नाश करते हैं, वे आत्मघाती हैं। इसीप्रकार वे लोग कौन हैं, जो

अज्ञानी हैं? वे हमेशा ही अपनी आत्मा की किसप्रकार हिंसा करते हैं? अविद्यारूप दोष के कारण अपनी नित्य सिद्ध आत्मा का तिरस्कार करने से अज्ञानी प्राणियों की दृष्टि में नित्य विद्यमान आत्मा का अजर अमरत्व आदि ज्ञानरूप कार्य अर्थात् फल, मरे हुए के समान, तिरोभूत रहता है, इसलिए सामान्य अज्ञानी लोग आत्मघाती कहे जाते हैं। इस आत्मघातरूप दोष के कारण ही, वे जन्म–मरण को प्राप्त होते हैं।।३।।

जिस आत्मा का हनन करने से अज्ञानी लोग जन्म–मरणरूप संसार को प्राप्त होते हैं, जबकि इसके विपरीत ज्ञानी लोग मुक्त हो जाते हैं, वे आत्मघाती नहीं होते हैं। इसके बाद वह आत्मतत्त्व कैसा है? इस विषय में कहा जा रहा है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **परमात्मा की दूसरी विशेषताओं** के विषय में कहते हैं कि–

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

अन्वय– (तत्) अनेजत् एकम् मनसः जवीयः, पूर्वम् अर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन्, तत् अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति, तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति।।४।।

अनुवाद– वे परमब्रह्म अचल और एक रहते हुए, मन से भी अधिक तीव्र गति से युक्त हैं, सभी के आदि तथा ज्ञानस्वरूप हैं, इस परमात्मा को इन्द्रादि देवता भी प्राप्त नहीं कर सके हैं, वे परमेश्वर तो दूसरे दौड़ने वालों के स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनकी सत्ता से ही वायु आदि देवता, जलवर्षा आदि क्रिया करने में समर्थ हो पाते हैं।।4।।

'चन्द्रिका'– इस मन्त्र में परमब्रह्म की कुल आठ विशेषताओं के विषय में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऐसे परमेश्वर का स्मरण करते हुए ही हमें सांसारिक कार्यों को त्यागपूर्वक सम्पादित करना चाहिए। (क) उस परब्रह्मरूप आत्मा में किसी प्रकार की गति, कम्पन

या स्वरूप–च्युति नहीं होती है (ख) इसलिए वह हमेशा अद्वितीय है, उसके समान भी दूसरा कोई नहीं है (ग) वह सम्पूर्ण संसार के जीवों में रहने वाले मन से भी अधिक तीव्र गति से युक्त है (घ) वे परमात्मा सृष्टि के आरम्भ से भी कहीं अधिक पहले से हैं तथा (ङ) ज्ञानस्वरूप हैं, (च) इस परमेश्वर को देवताओं के राजा इन्द्र तथा दूसरे उत्कृष्ट कोटि के देवता प्रयास करते हुए भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

(छ) वे परमेश्वर तो दूसरे दौड़ने वालों के स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् इस संसार में जितने भी तीव्र गति वाले गरुड़ादि जीव हैं, उन सभी को क्षणमात्र में ही ये परमात्मा बहुत पीछे छोड़ देते हैं और आगे निकल जाते हैं, (ज) इसके अतिरिक्त इस सम्पूर्ण सृष्टि में वायु आदि जो भी देवता जल वर्षा आदि करते हैं, उन सबके पीछे एकमात्र इसी परब्रह्म की सत्ता कार्य करती है, इन्हीं की दी हुई शक्ति द्वारा ये अपने–अपने कार्य सम्पन्न कर पाते हैं, उसके अभाव में ये कुछ भी करने में समर्थ नहीं है।

विशेष–(i) उल्लेखनीय है कि यदि कोई कहे कि एक तरफ तो आप उस आत्मा को अचल कह रहे हैं, वहीं दूसरी ओर इसे मन से भी अधिक वेगवान् बता रहे हैं, ये परस्पर विरोधी बातें भला कैसे सम्भव हैं? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि निरुपाधिक आत्मा ध्रुव तथा निश्चल है, किन्तु यही अन्तःकरण की सङ्कल्प विकल्पात्मिका उपाधि का अनुकरण करने पर मन से भी अधिक गति वाला हो जाता है, तो उक्त कथन में दोष नहीं रहता है।

(ii) आत्मा का विरोधाभासी रूप वर्णित होने से विरोधाभास अलङ्कार का सौन्दर्य दर्शनीय है।

(iii) परमब्रह्म परमात्मा की वैविध्यपूर्ण एवं विचित्र शक्तियों का उल्लेख करते हुए, उसका स्वरूप वर्णित किया गया है।

(iv) प्रस्तुत मन्त्र में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, इसके चार चरणों में से प्रत्येक में ग्यारह–ग्यारह, कुल चवालीस वर्ण होते हैं।

टिप्पणी– (i) अत्येति– अति+एति–√इण् (गतौ)+लट्, प्र.पु.,ए.व.।

(ii) **अनेजदेकम्–** अनेजत्+एकम्, झल् को जश् आदेश।

(iii) **आप्नुवन्**– √आप् (प्रापणे)+शतृ। **तिष्ठत्**– √स्था+शतृ।

(iv) **दधाति**– √धा(डुधाञ् धारण पोषणयोः) +लट्, प्रथमपु., ए.व.।

शाङ्करभाष्य– अनेजत् न एजत्। 'एजृ कम्पने', कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिः, तद्वर्जितम्, सर्वदा एकरूपमित्यर्थः। तच्च एकं सर्वभूतेषु। मनसः सङ्कल्पादिलक्षणात् जवीयो जववत्तरम्।

कथं विरुद्धमुच्यते, ध्रुवं निश्चलमिदम्, मनसो जवीय इति च?

नैष दोषः, निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते। अनेजदेकम् इति। मनसः अन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्प-लक्षणस्योपाधेरनुवर्तनात्।

भाष्यानुवाद– जो चलने वाला न हो, उसे 'अनेजत्' कहते हैं, क्योंकि 'एजृ कम्पने' धातु सूत्र से √एज् धातु का अर्थ 'कम्पन' है। इसप्रकार वह आत्मतत्त्व कम्पन अर्थात् चलन, यानी अपनी अवस्था से च्युत होने से रहित है अर्थात् हमेशा ही एक रूप रहता है। वह एक ही सभी प्राणियों में विद्यमान है, साथ ही, सङ्कल्पादि रूप मन से भी जवीय अर्थात् अधिक वेगवान् है।

शङ्का– यह विरुद्ध बात भला कैसे कही जा रही है कि वह आत्मतत्त्व ध्रुव तथा निश्चल है और मन से भी अधिक वेगवान् है?

समाधान– इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि निरूपाधिक एवं सोपाधिक रूप से यह विरुद्ध कथन भी बन सकता है, इस अवस्था में अपने निरूपाधिक रूप से तो 'अविचल' और 'एक' इसप्रकार कहा जाता है और अन्तःकरण की मनरूप सङ्कल्प विकल्पात्मिका उपाधि का अनुवर्तन करने से इसे मन से भी अधिक वेगवान् कहा गया है।

इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्रा-द्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति, प्रथमप्राप्त इवात्मचैतन्याभासो गृह्यते। अतः मनसो जवीयः इत्याह ।

नैनद्देवाः, द्योतनाद्देवाः चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, एतत् प्रकृतमात्मतत्त्वं नाप्नुवन् न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनोजवीयः। मनोव्यापारव्यवहितत्वात् आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभवति।

भाष्यानुवाद– इस संसार में शरीर में स्थित मन का ब्रह्मलोक आदि दूर देश में सङ्कल्परूप से एक क्षण में ही गमन हो जाता है, इस लिए मन का अत्यधिक वेगवत्व तो संसार में प्रसिद्ध ही है, किन्तु उस मन के ब्रह्मलोक आदि में अत्यधिक शीघ्रता से पहुँचने पर वहाँ आत्म चैतन्य का आभास पूर्व में ही पहुँचा हुआ सा अनुभव किया जाता है, इसलिए श्रुति कहती है कि वह मन से भी अधिक वेगवान् है।

जिसका प्रकरण चल रहा है, ऐसे इस आत्मतत्त्व को देवता भी प्राप्त अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सकते हैं। विषयों का द्योतन अर्थात् प्रकाश करने के कारण, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही देवता हैं, उन इन्द्रियों से तो मन ही वेगवान् है, इसलिए आत्मा तथा इन्द्रियों के बीच में मन के व्यापार के व्यवधान होने से आत्मा का तो आभासमात्र भी इन्द्रियों का विषय नहीं होता है।

यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतम्, व्योमवद्व्यापित्वात्। सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणा–विक्रियमेव सत्, उपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवा–विवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह–

तत् धावतः द्रुतं गच्छतः अन्यान् आत्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रिय–प्रभृतीन् अत्येति अतीत्य गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति, स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः।

भाष्यानुवाद– क्योंकि आकाश के समान व्यापक होने से वह वेगवान् मन से भी पहले ही गया हुआ है। वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण संसारधर्मों से रहित और विकार रहित होकर ही उपाधि द्वारा किए गए, सम्पूर्ण सांसारिक विकारों को अनुभव करता है और यही अविवेकी मूर्ख लोगों को प्रत्येक शरीर में अनेक सा प्रतीत होता है, इसीलिए श्रुति ने इसप्रकार कहा है।

वह दौड़ते हुए अर्थात् तेजी से चलते हुए, आत्मा से भिन्न दूसरे मन, वाणी, इन्द्रिय आदि का अतिक्रमण कर जाता है, मानो उसे पार करके चला जाता है। यहाँ 'इव' का भावार्थ श्रुति 'तिष्ठत्' अर्थात्

ठहरने वाला, इस पद से स्वयं ही प्रदर्शित कर रही है। दूसरे शब्दों में, अविकारी रहकर ही दूसरों को पार कर जाता है।

तस्मिन् आत्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे, मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मकः, यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च, यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ, स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादि-लक्षणानि, दधाति विभजतीत्यर्थः।

धारयतीति वा; 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै. उ.२।८।१) **इत्यादि-श्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वा-स्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः।।४।।**

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह–

भाष्यानुवाद– उस नित्य चैतन्यरूप आत्मतत्त्व के वर्तमान रहते हुए ही, जो मातरि अर्थात् अन्तरिक्ष में संचार अर्थात् गमन करता है, वह मातरिश्वा अर्थात् वायु, जो सभी प्राणियों का पोषक एवं क्रियारूप है, उसी के अधीन ये सभी शरीर तथा इन्द्रिय हैं, जिनमें ये सभी ओत प्रोत हैं एवं जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व सम्पूर्ण संसार का विधाता है, वह मातरिश्वा, अप् अर्थात् प्राणियों के चेष्टारूप कर्म अर्थात् अग्नि, सूर्य और मेघादि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन तथा वर्षा आदि कर्म विभक्त करता है, इसका यही अभिप्राय है।

अथवा इसके ही भय से वायु चलता है, इत्यादि भावों से युक्त श्रुतियों के अनुसार 'दधाति' का अर्थ धारण करता है,इसप्रकार समझना चाहिए, क्योंकि शरीर एवं इन्द्रिय आदि सभी विकार सभी के अधिष्ठान रूप नित्य चैतन्य, आत्मतत्त्व के विद्यमान रहते हुए ही होते हैं।।४।।

मन्त्रों को कभी भी आलस्य नहीं होता है, इसलिए पूर्व मन्त्र द्वारा कहे गए अर्थ को ही फिर से कहते हैं–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति तथा सर्वव्यापकता** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।

अन्वय– तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके, तत् अस्य सर्वस्य अन्तः, तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः।।५।।

अनुवाद– वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते हैं, वे दूर हैं और वे अत्यधिक पास भी हैं, वह इस सम्पूर्ण संसार के अन्दर विराजमान हैं तथा वे इस जगत् के बाहर भी हैं।।5।।

'चन्द्रिका'– वस्तुस्थिति तो यह है कि विरोधाभासी व्यक्तित्व ही परमपिता परमेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है, **जैसे–** (1) वे परमपिता परमात्मा चलते भी हैं और नहीं भी चलते हैं, इसप्रकार एक ही समय में परस्पर विरोधी भाव, गुण एवं क्रिया जिनमें एक साथ रह सकती हैं या रहती हैं, वे ही तो परमब्रह्म है, (2) इसीप्रकार वे परमेश्वर हमारे से अत्यधिक दूर भी हैं और हमारे ही अङ्गुष्ठमात्र हृदय में आत्मारूप में विराजमान होने से वे अत्यधिक पास भी हैं, (3) इसके अतिरिक्त वे परमपिता परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण–कण में विराजमान हैं, इसलिए पास से भी पास हैं तथा (4) इस संसार से बाहर की ओर द्युलोक से भी ऊपर अपने परमशुद्ध रूप में परमब्रह्म स्थित हैं, इसलिए दूर से भी दूर हैं, इस सबसे उनकी अचिन्त्य शक्ति और व्यापकता की महिमा ही अभिव्यक्त हो रही है।

विशेष–(i) 'उ' निपात का प्रयोग 'निश्चय' अर्थ में हुआ है।

(ii) परमात्मा के विरोधी गुणों के कथन से विरोधाभास अलङ्कार का सौन्दर्य दर्शनीय है। उ निपात का निश्चय अर्थ में प्रयोग हुआ है।

(iii) गीता (13/15) में कहा गया है कि सबके अन्तर्यामी होने के कारण वे सभी के अत्यधिक पास में हैं, किन्तु अज्ञानी लोग उन्हें इस रूप में नहीं जानते हैं, इसलिए उनसे वे अत्यधिक दूर हैं।

(iv) वस्तुतः वे परब्रह्म सम्पूर्ण संसार के परम आधार तथा परम कारण हैं, इसीलिए इसके बाहर और भीतर सब ओर विराजमान हैं।

(v) ऋग्वेद में जो परमब्रह्म के तीन पाद जगत् से ऊपर के लोक में तथा एक पाद ब्रह्माण्ड के रूप में उत्पन्न होने की बात कही

गयी है– **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।** (10/90/4), यहाँ उसी को दृष्टिगत रखते हुए ब्रह्माण्ड के भीतर तथा बाहर बताया है।

(vi) दूर तथा अत्यधिक पास होने की व्याख्या इसप्रकार भी कर सकते हैं– परमब्रह्म अपने परमधाम में एवं लीलाधाम में अपने भक्तों को आनन्दित करने के लिए, सगुण आकार में प्रकट होकर लीला करते हैं, यही उनका चलना है और निर्गुण रूप में हमेशा अचल बने रहना ही उनका न चलना है।

(vii) इसीप्रकार वे श्रद्धा एवं भक्ति से रहित व्यक्ति को वे कभी दर्शन नहीं देते हैं, अतः ऐसे लोगों से वे दूर से भी दूर हैं, जबकि अपने भक्तजनों की पुकार सुनकर वे दौड़े चले आते हैं, उनके लिए वे उनके पास से भी पास हैं।

(viii) अथवा फिर सदा सर्वत्र परिपूर्ण होने से वे दूर से भी दूर हैं और इस संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं हैं, जहाँ वे न हों, इस लिए पास से भी पास वे ही हैं, या फिर अन्तर्यामी होने से भी वे निकट से भी निकट हैं।

टिप्पणी– (i) **एजति–** √एज्+लट्, प्र.पु, ए.व., वै.रू., **लोक** एजते।

(ii) **बाह्यतः–** बाह्य+तसिल्, पञ्चम्यास्तसिल् सूत्र से।

शाङ्करभाष्य– तत् आत्मतत्त्वं यत्प्रकृतम् तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति, स्वतः अचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः। किञ्च, तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव। तत् उ अन्तिक इति– च्छेदः। तदु अन्तिके समीपे अत्यन्तमेव विदुषाम्, आत्मत्वात् न केवलं दूरे, अन्तिके च।

तत् अन्तः अभ्यन्तरे अस्य सर्वस्य, 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ.उ. ३।४।१) **इति श्रुतेः, अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य। तत् उ अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतः; व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः; 'प्रज्ञानघन एव'** (बृ.उ.४।५।१३) **इति शासनान्निरन्तरं च।।५।।**

भाष्यानुवाद– जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मतत्त्व एजन करता है अर्थात् चलता है, वह स्वयं नहीं भी चलता है अर्थात् स्वयं अचल रहकर ही चलता हुआ सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त वह

दूर भी है, अज्ञानियों को सैंकड़ों करोड़ों वर्षों में भी अप्राप्य होने से दूर के समान है। तद्वन्तिके अर्थात् तत् उ अन्तिके, इसप्रकार पदच्छेद करना चाहिए। वही अन्तिक अर्थात् वह दूर ही नहीं, अपितु विद्वानों का आत्मा होने के कारण अत्यधिक समीप भी है।

इसके अलावा वह इस सबके अन्तर अर्थात् भीतर भी है, जैसा कि कहा भी गया है कि जो आत्मा सर्वान्तर है, इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। आकाश के समान व्यापक होने से वह इस नामरूप तथा क्रियात्मक सम्पूर्ण संसार के बाहर एवं सूक्ष्मरूप होने से इसके भीतर भी विद्यमान है। श्रुति के अनुसार– 'वह प्रज्ञानघन ही है' इस कथन के अनुसार वह निरन्तर बाहर और भीतर के भेदादि को छोड़कर सर्वत्र विद्यमान है।

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **परब्रह्म को जानने वाले व्यक्ति की स्थिति** के विषय में कहते हैं कि–

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।

अन्वय– तु यः सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति, सर्वभूतेषु च अत्मानम्, ततः न विजुगुप्सते।।६।।

अनुवाद– किन्तु जो व्यक्ति सभी प्राणियों को परमात्मा में ही देखता है तथा सभी प्राणियों में परमेश्वर के दर्शन करता है, उसके बाद वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता है।।६।।

'चन्द्रिका'– यहाँ पर दो बातों का प्रमुख रूप से कथन किया गया है, **प्रथम,** जो व्यक्ति उस परमपिता परमात्मा में इस संसार के सभी प्राणियों का ही दर्शन करता है तथा **द्वितीय,** जो व्यक्ति इस संसार के सभी प्राणियों में उस परमपिता परमेश्वर के ही दर्शन करता है, वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता है, चाहे वह प्राणी कितना भी घृणित क्यों न हो, क्योंकि उसे तो उसमें भी अपने प्रभु के ही दर्शन होते हैं, फिर वह अपने आराध्य के प्रति घृणा का भाव भला कैसे रख सकता है? वह तो मन ही मन इन सभी को प्रणाम करता है तथा उन्हें येन केन प्रकारेण सुख पहुँचाने का ही प्रयास करता है।

विशेष–(i) गीता (6/29–30) में भी इसीप्रकार के भावों की मन भावन अभिव्यक्ति की गयी है।

(ii) जब व्यक्ति अपनी निरन्तर भक्ति एवं उपासना से परमेश्वर को प्रसन्न कर लेता है तो फिर उसे सर्वत्र वे ही दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए वह तो सभी प्राणियों में भले ही वे स्थूल दृष्टि से लोगों की घृणा का पात्र ही क्यों न हो, अपने आराध्य परमेश्वर को ही देखता है और उन्हें श्रद्धा के साथ नमन करता है, घृणा नहीं।

(iii) यह स्थिति वस्तुतः भक्त या साधक की सर्वोच्च स्थिति मानी गयी है, यहाँ उसी का कथन किया है।

(iv) ब्रह्मोपासक की महिमा का उल्लेख करने के लिए यहाँ पर 'तु' निपात का प्रयोग किया गया है, जिसके कारण संसार के सभी प्राणियों में परमात्मा की व्याप्तिमात्र कही गयी है, इसीलिए परमात्मा के अधीन सभी प्राणियों की स्थिति मानी गयी है, किन्तु प्राणियों के अधीन परमात्मा की स्थिति नहीं है।

(v) वस्तुस्थिति तो यह है कि द्वेषाभाव तथा मैत्रादि गुणों वाले भक्त को तो भगवान् अपना प्रिय मानते हैं, इसलिए वह भला किसी भी प्राणी से द्वेष या घृणा कैसे कर सकता है?

टिप्पणी– (i) **अनुपश्यति**– अनु+√दृश् (पश्य)+लट्, प्र.पु.,ए.व.।

(ii) **विजुगुप्सते**– वि+√गुप्+सन् (निन्दार्थे), आत्मने, प्र.पु.,ए.व.।

(iii) **आत्मनि**– आत्मन्+स.वि.,ए.व.। **आत्मानम्**–द्वितीया,ए.व.।

शाङ्करभाष्य–यस्तु परिव्राट् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येव अनुपश्यति, आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु तेष्वेव च आत्मानं तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकरणसङ्घातस्यात्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति, सः ततः तस्मादेव दर्शनात् न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति।

प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा हि घृणा आत्मनोऽन्यदुष्टं पश्यतो भवति; आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत इति।।६।।

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह–

भाष्यानुवाद– जो मुमुक्षु संन्यासी अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों को आत्मा में ही देखता है अर्थात् उन्हें आत्मा से अलग नहीं मानता है और उन सभी भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, दूसरे शब्दों में, उन प्राणियों की आत्मा को भी अपना ही मानता है कि जिसप्रकार मैं इस शरीर के कार्य, करण के संघात का आत्मा हूँ, साथ ही, सभीप्रकार की प्रतीतियों का साक्षी, चेतयिता, केवल और निर्गुण हूँ, उसीप्रकार अपने इसी रूप द्वारा अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों का आत्मा भी मैं ही हूँ। इसप्रकार जो संसार के सभी प्राणियों में अपने आत्मस्वरूप को ही देखता है, वह उसके कारण ही किसी से जुगुप्सा अर्थात् घृणा नहीं करता है।

यह प्राप्त का ही अनुवाद है। सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ को देखने वाले व्यक्ति को ही होती है, किन्तु जो व्यक्ति निरन्तर अपने अत्यधिक विशुद्ध आत्मस्वरूप को ही देखने वाला है, उसकी दृष्टि में घृणा का कारणरूप कोई अन्य पदार्थ ही नहीं होता है, यह बात स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिए वह किसी से भी घृणा नहीं करता है।।६।।

इसी बात को दूसरे मन्त्र में भी कहते हैं–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **परमात्म दर्शन के बाद व्यक्ति की दृष्टि** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।

अन्वय– यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्, तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः, कः मोहः? कः शोकः? ।।७।।

अनुवाद– जिस स्थिति में परमब्रह्म को भलीप्रकार जानने वाले व्यक्ति के लिए, सभी प्राणी परमात्म स्वरूप ही हो जाते हैं। उस

अवस्था में एक मात्र परमात्मा का साक्षात् करने वाले व्यक्ति के लिए कैसा मोह? और कैसा शोक?।।७।।

'चन्द्रिका'– जब ब्रह्मोपासक परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब उस स्थिति में तो इस परमब्रह्म को भलीप्रकार पहचानने वाले व्यक्ति के लिए, इस संसार के सभी प्राणी परमात्म स्वरूप ही हो जाते हैं, क्योंकि उसके लिए परमात्मा तथा प्राणियों में लेशमात्र भी भेद नहीं रह जाता है, इसलिए इसप्रकार की उस अवस्था में एक मात्र परमात्मा का साक्षात् करने वाले व्यक्ति के लिए कैसा मोह? और कैसा शोक? ये सभी बातें तो उसके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखती हैं।

विशेष–(i) अभिप्राय यही है कि परमात्म दर्शन के बाद में तो साधक की भगवद्दृष्टि होने से वह सम्पूर्ण प्राणिमात्र में परमात्मा के ही दर्शन करता है, तो फिर उसके अन्तःकरण में शोक तथा मोह की स्थिति भला कैसे बन सकती है? वह तो सभी प्राणियों में अपने आराध्य के ही दर्शन करता है, अन्य किसी का नहीं, इसी में उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।

(ii) इतना ही नहीं, सांसारिक क्रियाओं को करता हुआ भी वह मानो अपने को, अपने आराध्य प्रभु के साथ ही क्रीड़ा करता हुआ अनुभव करता है, वे सभी प्राणी उसकी दृष्टि में होते ही नहीं हैं।

(iii) यही बात श्रीमद्भगवद्गीता (6/31) में भी कही गयी है कि इस अवस्था में तो लोगों के देखने में वह ब्रह्मोपासक सब कुछ करता है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह अपने प्रभु के साथ क्रीड़ा करता हुआ असीम आनन्द का अनुभव करता है, क्योंकि उसके लिए प्रभु तथा उनकी लीला इसके अलावा दूसरा कुछ रहता ही नहीं है।

(iv) आत्मज्ञानी वस्तुतः 'स्थितप्रज्ञ' होते हैं, इसलिए उसी की स्थिति का यहाँ मनोरम चित्रण किया गया है।

(v) यहाँ दो बातें प्रमुखरूप से कही गयी हैं (क) जो व्यक्ति स्वयं को जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है (ख) ऐसे आत्मज्ञाता लोग ही स्थितप्रज्ञ की श्रेणी में आते हैं।

टिप्पणी– (i) अभूत्– √भू+लुङ्लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन।

(ii) **विजानतः**– वि+√ज्ञा+शतृ, षष्ठी विभक्ति, एकवचन।

(iii) **अनुपश्यतः**– अनु+√दृश्+शतृ, षष्ठी विभक्ति, एकवचन।

(iv) **शोकः**– √शुच्+घञ्। **मोहः**– √मुह्+घञ्।

शाङ्करभाष्य– यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा, तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनात् आत्मैवाभूत् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा, को मोहः? कः शोकः? शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः।

को मोहः? कः शोक इति? शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासम्भवप्रकाशनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति।।७।। योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा, स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याह अयं मन्त्रः–

भाष्यानुवाद– जिस समय अथवा जिस पूर्व में कहे गए आत्मा के स्वरूप में परमार्थ तत्त्व को जानने वाले, व्यक्ति की दृष्टि में वे सभी प्राणी, वस्तुतः आत्मस्वरूप के दर्शन से आत्मा ही हो गए अर्थात् आत्म भाव को प्राप्त हो गए, उस समय या फिर उस आत्मा में भला कैसा शोक? तथा कैसा मोह? क्योंकि शोक एवं मोह तो कामना और कर्म के बीच को न जानने वाले व्यक्ति को ही होते हैं, जो आकाश के समान अत्यन्त विशुद्ध आत्मा के एकत्व का दर्शन करता है, उसे नहीं होते हैं।

क्या मोह? और क्या शोक? इसप्रकार अविद्या के कार्यरूप शोक एवं मोह की आक्षेपरूप असम्भाव्यता को प्रदर्शित करके, कारण सहित संसार का अत्यन्त उच्छेद प्रदर्शित किया गया है।।७।।

उपर्युक्त मन्त्रों के माध्यम से जिस आत्मा का वर्णन किया गया है, वह अपने स्वरूप से किस प्रकार के लक्षणों वाला है? इसी बात को यह मन्त्र बता रहा है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **परमात्मा को जानने और उसके सर्वत्र दर्शन के फल** के विषय में कहते हैं कि–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण–
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो–
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।

अन्वय–सः शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपाप–विद्धम् पर्यगात्, (यः) कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः, शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्।।८।।

अनुवाद– वह व्यक्ति उस परम तेजोमय, शरीर से रहित, व्रणादि से रहित, शिराओं से रहित, परम शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप, शुभ–अशुभ कर्मों से रहित, परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है, जो सर्वद्रष्टा, ज्ञानस्वरूप, सर्वनियन्ता, स्वेच्छा से प्रकट होने वाले, अनादि काल से प्राणियों के कर्मों के अनुसार संसार के पदार्थों की संरचना करते आए हैं।।८।।

'चन्द्रिका'– अभिप्राय यही है कि परमब्रह्म की उपासना करने वाला, वह व्यक्ति जब उस परम पुरुषोत्तम, संसार के स्वामी को भली प्रकार इसरूप में प्राप्त कर लेता है कि वे तो परम तेजस्वरूप हैं, उनका कोई भी दृश्यमान शरीर नहीं है तथा उनका विग्रह किसी व्रण आदि चिह्न से युक्त भी नहीं है, उनके शरीर में दूसरे प्राणियों के समान शिराएँ भी नहीं हैं, इसीलिए वे शिराओं से सर्वथा रहित विग्रह वाले हैं। इसके अतिरिक्त वे तो परम शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप हैं।

वे किसी भी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्मों को नहीं करते हैं, इराप्रकार के गुणों से विशिष्ट, उस परमपिता परमेश्वर को जो सभी के द्रष्टा हैं, साक्षात् ज्ञानस्वरूप हैं, सभी को नियन्त्रित करने वाले हैं और स्वेच्छा से प्रकट होने वाले हैं एवं अनादि (शाश्वती) काल (समा) से इस संसार के सभी प्राणियों के कर्मों के अनुसार, उनके लिए पदार्थों की संरचना करते आए हैं अथवा देवताओं के कामों का आवंटन कर दिया है। इसप्रकार के चिन्तन के परिणाम स्वरूप वह साधक शोक तथा बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, परमब्रह्ममय हो जाता है और उसके लिए यह संसार भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

विशेष–(i) व्रण से अभिप्राय यहाँ विकारों से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि परमपिता परमात्मा सभी प्रकार के विकारों से रहित है, उसका कोई सूक्ष्म या कारण शरीर भी नहीं है।

(ii) वह मनीषी अर्थात् संसार के सभी प्राणियों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता है या उनके मनों का नियमन करने वाला है, स्वयं सत्तावान् तथा स्वयं में ही निष्ठ भी है।

(iii) वस्तुस्थिति तो यह है कि परमात्मा ही संसार के सभी प्राणियों के कर्मों का अनादिकाल से यथायोग्य विधान करता आया है। संक्षेप में वह सर्वव्यापी, सभी का नियन्ता सर्वोच्च परमात्मा है।

(iv) 'पर्यगात्' पद से अभिप्राय सभी ओर गया हुआ अर्थात् वह आकाश के समान सभी ओर व्यापक है, शुद्ध अर्थात् दीप्तिमान् है।

(v) स्नाविर स्नायुओं अर्थात् शिराओं को कहा जाता है, परमात्मा को यहाँ अस्नाविर, इसीलिए कहा गया है, क्योंकि उसमें शरीर न होने से शिराओं आदि का भी सर्वथा अभाव है।

(vi) वे शुद्ध अर्थात् निर्मल यानी अविद्या आदि मलों से सर्वथा रहित हैं। शुद्ध पद से यहाँ कारण शरीर से रहित अर्थ को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि संसार के दूसरे प्राणियों के समान परमात्मा का कोई कारण या सूक्ष्म शरीर भी नहीं है।

(vii) उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रयुक्त 'शुक्रम्' आदि पदों को पुल्लिङ्ग में बदल लेना चाहिए, क्योंकि मन्त्र का उपसंहार कविः, मनीषी आदि पुल्लिङ्ग पदों के माध्यम से ही किया गया है।

(viii) इसीप्रकार कवि पद का प्रयोग क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वद्रष्टा के लिए हुआ है, क्योंकि परमेश्वर की दृष्टि से कुछ भी छिपा नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/17) में कहा भी गया है कि–

नान्योऽस्ति द्रष्टा, इति।

(ix) यथा तथा के भाव को 'याथातथ्य' कहते हैं, क्योंकि उस परमपिता परमात्मा ने सर्वज्ञ होने के कारण यथाभूत कर्म, फल एवं साधन के अनुसार अर्थों एवं कर्तव्यों का यथायोग्य रीति से विभाग कर दिया है, इसीलिए उसे यहाँ 'याथातथ्य' कहा गया है। वस्तुतः उस

परमब्रह्म ने ही संवत्सर आदि प्रजापतियों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कर्तव्यों का आवंटन किया है।

(x) परमपिता परमात्मा को यहाँ 'स्वयंभू' कहा गया है, क्योंकि वह कभी भी न तो जन्म लेता है और न ही उसकी उत्पत्ति हुई है। उसकी सत्ता तो अनादिकाल से स्वयं ही विद्यमान है।

(xi) प्रस्तुत मन्त्र हमें सत्य की अनुभूति कराने के साथ, यह कथन भी करता है कि सत्य की अनुभूति के अभाव में सांसारिक प्राणी का जीवन कष्टमय, अन्धकारमय तथा निरर्थक है।

(xii) प्रस्तुत मन्त्र में जगती छन्द का प्रयोग हुआ है, इसके चार चरणों में से प्रत्येक में बारह–बारह, कुल अड़तालीस वर्ण होते हैं।

टिप्पणी– (i) **पर्यगात्–** परि+ √गम्+लुङ्, प्र.पु., ए.व., वै. प्र.।

(ii) **व्यदधात्–** वि+ √धा+लुङ्, प्र.पु., ए.व., वैदिक प्रयोग।

(iii) **मनीषी–** मनस्+ √ईष्+इनि। **परिभूः–** पर+ √भू+क्विप् (0)

शाङ्करभाष्य– सः यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि समन्तात् अगात् गतवान्, आकाशवद्व्यापीत्यर्थः। शुक्रं शुभ्रं ज्योतिष्मत् दीप्तिमानित्यर्थः। अकायम् अशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणम् अक्षतम्। अस्नाविरम् स्नावाः सिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्येताभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीर–प्रतिषेधः। अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम्।

भाष्यानुवाद– पूर्व में कहा गया वह आत्मा 'पर्यगात्' यानी परि अर्थात् सभी ओर से, 'अगात्' अर्थात् आया हुआ, यानी आकाश के समान जो सर्वव्यापक है, शुक्र, शुद्ध, ज्योतिष्मान् अर्थात् दीप्ति से सम्पन्न है, 'अकाय' अर्थात् अशरीरी, यानी लिङ्ग से रहित है, अव्रण अर्थात् अक्षत है, अस्नाविर है, जिसमें स्नायु अर्थात् शिराएँ न हों, उसे अस्नाविर कहते हैं। अव्रण एवं अस्नाविर, इन दो विशेषणों से यहाँ पर स्थूल शरीर का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त वह शुद्ध, निर्मल अर्थात् अविद्यारूप मल से पूर्णतया रहित है, इससे कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है। अपापविद्ध अर्थात् धर्म, अधर्मरूप पाप से सर्वथा रहित है।

शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणेयानि, स पर्यगात् इत्युपक्रम्य कविर्मनीषी इत्यादिना पुंल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात्।

कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ.उ. ३। ७।२३) **इत्यादिश्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता, सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां परि उपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति, येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः।**

भाष्यानुवाद– यहाँ प्रयुक्त 'शुक्रम्' इत्यादि पदों को पुल्लिङ्ग में परिवर्तित कर देना चाहिए, क्योंकि 'स पर्यगात्' इस पद से आरम्भ करके, 'कविः मनीषी' इत्यादि शब्दों के माध्यम से पुल्लिङ्ग रूप में ही बात का उपसंहार किया गया है।

कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी यानी वह सर्वदृक् है। जैसा कि श्रुति भी कहती है कि 'इसके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रष्टा ही नहीं है।' मनीषी अर्थात् मन का ईशन करने वाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर। परिभू यानी जो सभी के परि अर्थात् ऊपर है, इसीलिए परिभू है। स्वयंभू अर्थात् जो स्वयं ही होता है, इसीलिए स्वयंभू है अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है, वह सब स्वयं ही है, इसीलिए स्वयंभू है।

स नित्यमुक्त ईश्वरः याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वात् यथातथाभावो याथातथ्यं तस्मात् यथाभूतकर्मफलसाधनतः अर्थान् कर्तव्यपदार्थान् व्यदधात् विहितवान्, यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। शाश्वतीभ्यः नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः।।८।।

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः 'ईशावास्यमिदं सर्वम्...... मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (ई. उ.१) **इति। अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'** (ई. उ.२) **इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः।**

भाष्यानुवाद– उस नित्यमुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने के कारण यथाभूत कर्म, फल एवं साधन के अनुसार अर्थ, कर्तव्य पदार्थों का याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीति से उनका विभाग किया, यथातथा के भाव को ही याथातथ्य कहा जाता है, उसने शाश्वत यानी

नित्य समाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियों को उनकी योग्यता के अनुसार अलग–अलग कर्तव्यों का विभाजन कर दिया।।८।।

यहाँ 'ईशा वास्यमिदं सर्वं... मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इस प्रथम मन्त्र द्वारा सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया गया है, यही वेद का प्रथम अभिप्राय है तथा जो अज्ञानी एवं जीवित रहने की अभिलाषा वाले हैं, उनके लिए ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होने पर 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' इत्यादि मन्त्र से कर्म विषयक निष्ठा कही गयी है, यह दूसरा वेदार्थ है।

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रद्वयप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः–'सोऽकामयत जाया मे स्यात्' (बृ. उ.१।४।१७) **इत्यादिना, अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति। 'मन एवास्यात्मा वाग्जाया'** (बृ.उ.१।४।१७), (बृ.उ.१। ५।२) **इत्यादिवचनात्। अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्म–स्वरूपावस्थानम्।**

भाष्यानुवाद– उपर्युक्त मन्त्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया हुआ, इन निष्ठाओं का विभाग, बृहदारण्यक में भी दिखाया गया है। 'उसने इच्छा की कि मेरी पत्नी हो' इत्यादि वाक्यों से भी यह सिद्ध होता है कि कर्म अज्ञानी और सकाम व्यक्ति के लिए ही होता है। 'मन ही इसका आत्मा है और वाणी स्त्री है' इत्यादि वचनों से भी कर्मनिष्ठ का अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चितरूप से जाना जाता है और उसका फल 'सप्तान्नसर्ग' है, उनमें आत्मभावना करने से ही आत्मा की अनात्मरूप से स्थिति है।

जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चात्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येन आत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता, 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ.उ. ४।४। २२) **इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्यः 'असुर्या नाम ते'** (ई.उ. ३) **इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारेणात्मनो याथात्म्यम् 'स पर्यगात्'** (ई. उ. ८) **इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्।**

ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि, 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्'

(श्वे. उ.६।२१) **इत्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवः, तेभ्य इदमुच्यते–**

भाष्यानुवाद–आत्मज्ञानियों के लिए तो वहाँ अर्थात् बृहदारण्यको–पनिषद् में 'जिन हमें यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है, वे हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे'? इत्यादि वाक्य से पत्नी आदि तीन प्रकार की ऐषणाओं के त्यागपूर्वक कर्म की निष्ठा के विरुद्ध आत्मा के स्वरूप में स्थिर रहना ही दिखाया गया है, जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं, उन्हें ही 'असुर्या नाम ते लोकाः' यहाँ से लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादि मन्त्र पर्यन्त अज्ञानी की निन्दा करते हुए, आत्मा के यथार्थ रूप का उपदेश दिया गया है।

इस आत्मनिष्ठा में वस्तुतः उन्हीं का अधिकार है, सकाम लोगों का नहीं। इसीप्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी 'ऋषिसमूह से भलीप्रकार सेवा किए गए ऋषि श्वेताश्वतर ने परम पवित्र आत्म ज्ञान का 'उत्तम' अर्थात् संन्यास आश्रम वालों को उपदेश प्रदान किया है' इत्यादि रूप से इसी का अलग से उपदेश दिया गया है।

किन्तु जो कर्मनिष्ठ लोग कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिए यह कहा गया है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **अविद्या तथा ज्ञान के मिथ्याभिमान के परिणाम भेद को** स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया्ँ रताः।।९।।

अन्वय– ये अविद्याम् उपासते, (ते) अन्धम् तमः प्रविशन्ति, ये उ विद्याथाम् रताः, ते ततः भूयः इव तमः (प्रविशन्ति)।।९।।

अनुवाद– जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे तो अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो व्यक्ति विद्या (ज्ञान के मिथ्या अभिमान) **में ही निरत रहते हैं, वे तो मानो उससे भी अधिक गहन अन्धकार में डूबे रहते हैं।।९।।**

'चन्द्रिका'– जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि विद्या और अविद्या दो वस्तुएँ हैं, इनमें से विद्या ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाली

है तो अविद्या जीवात्मा को सांसारिकता से जोड़ती है, यही कारण है कि इस संसार में जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे तो अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो व्यक्ति योग्य गुरु के माध्यम से विद्या को प्राप्त न करके, ज्ञान के झूठे अभिमान में निरत रहते हैं, वे तो मानो उससे भी अधिक गहन अन्धकार में डूबे रहते हैं।

अभिप्राय यही है कि अनेक लोग सांसारिक भोगों में आसक्त होकर उनको प्राप्त करने के लिए, जिस साधनरूप अविद्या अर्थात् विविध प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के फल रूप में अज्ञानरूपी अन्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों में जन्म लेकर अपने कर्मों के अनुसार फलों अर्थात् भोगों को प्राप्त करते हैं, इसीलिए वे लोग अपने चरम लक्ष्य परमेश्वर को प्राप्त न करके, निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में पड़कर, विविध सन्तापों से पीड़ित होते रहते हैं।

जबकि दूसरे लोग अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्तापन के अभिमान से रहित होकर, उचित प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान भी नहीं करते हैं और न ही विवेक–वैराग्यादि उत्कृष्ट साधनों का ही सेवन करते हैं, अपितु शास्त्रों के अध्ययन, श्रवणादि के आधार पर अपने में विद्या अर्थात् ज्ञान का आरोप करके 'ज्ञान के मिथ्या अभिमानी' बन जाते हैं। ऐसे लोग तो 'हमारे लिए कोई कर्तव्य ही नहीं है' इसप्रकार मानते हुए अपने कर्तव्य कर्मों का भी परित्याग कर देते हैं और इन्द्रियों के वश में होकर, शास्त्र में कही गयी विधि के ठीक विपरीत आचरण करते हैं।

इसप्रकार के सकाम भाव से कर्म करने वाले वे लोग सांसारिक विषयों में आसक्त दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक गहन अन्धकार अर्थात् पशु, पक्षी, कूकर, शूकर आदि निम्न योनियों में जन्म लेते हैं या फिर रौरव तथा कुम्भीपाक आदि घोर नरकों में गिरते हैं। इसलिए व्यक्ति को अपने ज्ञान का मिथ्या अभिमान न करके, योग्य गुरु के सान्निध्य में उसकी सेवा तथा अपने चित्त की शुद्धि करते हुए, विद्या का आश्रय लेना चाहिए, तभी उसकी मुक्ति सम्भव है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

विशेष–(i) 'उ' निपात का यहाँ 'निश्चय' अर्थ में प्रयोग हुआ है, जबकि 'इव' निपात यहाँ उत्प्रेक्षावाची है, जिसके कारण उत्प्रेक्षालङ्कार का सौन्दर्य दर्शनीय है।

(ii) योग्य गुरु के अभाव में 'ज्ञान का मिथ्या अभिमान' व्यक्ति के लिए घातक है तथा उसको अपेक्षाकृत अधिक गहरे गर्त में ले जाने वाला है, इसका प्रतिपादन किया है।

(iii) आचार्य शङ्कर के अनुसार परमात्मा का साधनभूत ज्ञान ही विद्या है, जबकि वेदादि में बताए गए मार्ग से स्वर्गादि की प्राप्ति अथवा इस संसार में प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के भोग तथा ऐश्वर्य प्राप्ति के साधनभूत कर्म ही अविद्या हैं।

(iv) वस्तुतः यहाँ पर कर्मों के अनुष्ठान तथा देवताज्ञान के समुच्चय इन दोनों की ही निन्दा की गयी है। आचार्य शङ्कर ने भी विद्या पद को यहाँ देवताज्ञान का वाचक माना है।

(v) वेद शास्त्रों में बताए गए ज्ञान से व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वह नित्य न होकर फलोपभोग पर्यन्त रहती है, तत्पश्चात् जीव को फिर इसी पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है, उसकी मुक्ति नहीं होती है, वह सांसारिक बन्धन में जकड़ा ही रहता है, इसीलिए यह विद्या गहनतम अन्धकार में डालने वाली है।

(vi) वेद, शास्त्रों के अध्ययन से स्वयं को पण्डित मानने वाले लोग अपने ज्ञान को ही पूर्ण मानकर करने योग्य कर्मों को भी नहीं करते हैं और इन्द्रियों के अधीन होकर शास्त्र विरुद्ध आचरण करने लगते हैं, इसीलिए विषयों में आसक्त व्यक्ति की अपेक्षा वे और भी घने अन्धकार में पड़कर, विभिन्न योनियों में भ्रमण करते हैं, ऐसे लोग कभी भी मुक्त नहीं होते हैं।

टिप्पणी– (i) **प्रविशन्ति**– प्र+ √विश्+लट्लकार, प्र.,पु.,बहुवचन।

(ii) **उपासते**– उप+ √आस्+लट्, आत्मने, प्रथमपुरुष, एकवचन।

शाङ्करभाष्य– कथं पुनरेवमवगम्यते, न तु सर्वेषाम् इति?

उच्यते— अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः? कः शोक? एकत्वमनुपश्यतः' (ई.उ. ७) **इति यत् आत्मैकत्वविज्ञानम्, तन्न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति।**

भाष्यानुवाद— शङ्का— भला यह कैसे ज्ञात होता है कि यह विधि मात्र कर्मनिष्ठों के लिए है, सभी के लिए नहीं है?

समाधान— इसी विषय में कहते हैं, सुनिए, निष्काम व्यक्ति के लिए जो 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इत्यादि मन्त्र से साध्य एवं साधन के भेद का निराकरण करते हुए, आत्मा के एकत्व के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, उसे कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति किसी भी कर्म या फिर दूसरे ज्ञान के साथ मिश्रित करना नहीं चाहेगा।

इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते। यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं तत्कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्, 'विद्यया देवलोकः' (बृ.उ.१।५।१६) **इति पृथक्फलश्रवणात्।**

तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया, न निन्दापरैव एकैकस्य, पृथक्फलश्रवणात्, 'विद्यया तदारोहन्ति' 'विद्यया देवलोकः' (बृ. उ. १। ५।१६) **'न तत्र दक्षिणा यान्ति' 'कर्मणा पितृलोकः'** (बृ. उ. १।५। १६) **इति। न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्।**

भाष्यानुवाद—यहाँ तो समुच्चय की इच्छा से ही अविद्वान् आदि की निन्दा की गयी है, इसलिए न्याय एवं शास्त्र के अनुसार जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है, उसी का यहाँ कथन किया गया है। अतः कर्म के सम्बन्धीरूप से यहाँ दैव वित्त अर्थात् देवता विषयक ज्ञान का ही उल्लेख किया गया है, परमात्म ज्ञान का नहीं, क्योंकि 'विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है' ऐसा इस ज्ञान का आत्मज्ञान से अलग ही फल सुना गया है।

उन ज्ञान तथा कर्म में से यहाँ जो एक–एक के अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, वह वस्तुतः समुच्चय के अभिप्राय से है, निन्दा के ही लिए नहीं, क्योंकि 'उस पद पर विद्या अर्थात् देवज्ञान से ही आरूढ़ होते हैं,' 'विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है', 'वहाँ दक्षिणमार्ग से जाने वाले नहीं पहुँचते हैं', 'कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है', इत्यादि एक–एक का फल बताने वाली श्रुतियाँ भी मिलती हैं और शास्त्रों में कही गयी कोई एक भी बात अकर्तव्य नहीं हो सकती है।

तत्रान्धं तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के? ये अविद्याम्, विद्याया अन्या अविद्या तां कर्मेत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलाम् उपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठ–न्तीत्यभिप्रायः। ततः तस्मादन्धात्मकात् तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञाने एव रताः अभिर :।

त्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह। अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः।।६।।

भाष्यानुवाद— उनमें वे तो अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं, कौन? जो अविद्या और विद्या में से अन्य अविद्या अर्थात् कर्म यानी केवल अग्निहोत्रादि रूप अविद्या की ही उपासना करते हैं, दूसरे शब्दों में, पूर्णरूप से तत्पर होकर कर्म का ही अनुष्ठान करते रहते हैं, क्योंकि कर्म, विद्या के विरोधी होते हैं, इसीलिए उन्हें अविद्या कहा गया है। इसके अतिरिक्त वे उस अन्धकार से भी कहीं अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, कौन? इसके उत्तर में कहते हैं— जो कर्म करना छोड़कर, मात्र विद्या अर्थात् दवतज्ञान में ही रत यानी अनुरक्त हैं।

विद्या और कर्म के अवान्तर फलभेद को ही इसके समुच्चय का कारण बताते हैं, नहीं तो एक दूसरे के निकट हुए फलयुक्त एवं फल हीन आपस में अङ्ग तथा अङ्गी हो जाएँगे, दूसरे शब्दों में, फलयुक्त तो मुख्य (अङ्गी) हो जाएगा और फलहीन गौण (अङ्ग) समझा जाएगा, इसका यही अभिप्राय है।

अवतरणिका— इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान के फल** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१०।।

अन्वय– विद्यया अन्यत् एव आहुः, विद्यया अन्यत् आहुः इति, धीराणाम् शुश्रुम, ये नः तत् विचचक्षिरे।।१०।।

अनुवाद– ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान (विद्यया) **का दूसरा ही फल कहते हैं तथा कर्मों के यथार्थरूप से करने से दूसरे ही फल की प्राप्ति को कहते हैं, हमने ऐसा उन विद्वान् लोगों से सुना है, जिन्होंने हमें उस विषय की पूर्व में भलीभाँति व्याख्या की थी।।१०।।**

'चन्द्रिका'– यहाँ पर उपनिषद्कार ने शास्त्रों का अध्ययन करते हुए, उनके वास्तविक तात्पर्य को समझकर, ज्ञान तथा कर्म इन दोनों का ही सम्यक् रीति से अनुष्ठान करने के अद्भुत फल का कथन किया है, तदनुसार– यदि व्यक्ति अपने कर्मों को यथार्थरूप से करता है तो उसे दूसरे ही फल की प्राप्ति होती है, ऐसा हमने उन विद्वान् लोगों से सुना है, जिन्होंने हमें इस विषय की ठीक उसीप्रकार व्याख्या की थी, जैसे प्राचीन तत्त्वज्ञानी ऋषियों ने दूसरे जिज्ञासु तथा मुमुक्षु ऋषियों को व्याख्या की थी।

वस्तुस्थिति यह है कि यथार्थ ज्ञान का सर्वोत्तम फल वस्तुतः ज्ञानाभिमानी, स्वेच्छाचारी लोगों की दुर्गति वाले, फल से सर्वथा भिन्न और विलक्षण होता है, क्योंकि इसमें साधक को नित्य एवं अनित्य वस्तु का विवेक हो जाता है और वह अनित्य इहलौकिक तथा पारलौकिक भोग सामग्रियों तथा उनके साधनों के प्रति विरक्ति को धारण करता है तथा संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए, अपने चित्त को एकमात्र सत् चित् और आनन्दस्वरूप परमब्रह्म में लगा देता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसे अखण्डानन्द की प्राप्ति होती है और अन्त में इस शरीर पात के बाद वह उस सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

यह तो हुआ सर्वोत्तम ज्ञान का पक्ष, इसीप्रकार सर्वोत्तम कर्म के स्वरूप को भी समझना चाहिए, तदनुसार– व्यक्ति अपने द्वारा किए गए **कर्मों के प्रति कर्तापन के भाव, राग–द्वेष और कर्मफल की कामना को त्याग देता है और अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुरूप मात्र श्रद्धा पूर्वक भगवत् चिन्तन करते हुए, शास्त्रों में कहे गए, कर्मों का ही यथा योग्य सेवन करता है।**

इनके अनुष्ठान से उसके सभी प्रकार के दुर्गुणों की पूर्णरूप से समाप्ति हो जाती है और वह सभी प्रकार के हर्ष एवं शोकादि विकारों से रहित होकर, इस जन्म–मृत्यु के संसार से मुक्त हो जाता है, जबकि जो लोग सकामभाव से कर्मों को करते हैं तथा स्वयं को उनका कर्ता मानते हैं, उन्हें तदनुसार ही पुनर्जन्म रूप फल की प्राप्ति होती है, यही कारण है कि यहाँ पर प्राचीन ऋषियों द्वारा कहे गए इस फल को सर्वथा विलक्षण अर्थात् भिन्न कहा गया है।

विशेष–(i) ग्रन्थकार का आशय यही है कि हमने इस विषय में ज्ञानी पुरुषों से सुना है, जिन्होंने इस विषय को अपने अनुभव द्वारा इसकी विस्तार से व्याख्या करते हुए, हमें समझाया था।

(ii) श्रुति में भी कहा गया है कि विद्या से दूसरे ही फलों की प्राप्ति होती है, जबकि कर्मों द्वारा व्यक्ति पितृलोक को प्राप्त करता है।

(iii) 'धीर' से अभिप्राय यहाँ उन बुद्धिमान् लोगों से है, जिन्होंने ग्रन्थकार को कर्म तथा ज्ञान का व्याख्यान किया था, इस दृष्टि से यह ज्ञान परम्परागत है, आज अर्थात् सद्य का ही नहीं है।

(iv) वस्तुतः उपनिषदों की विद्या कोई सामान्य विद्या न होकर, आत्मा को अपने मूल तत्त्व परमात्मा से मिलाने वाली है, जबकि शास्त्र में कही गयी विद्या व्यक्ति की आजीविका को चलाने में सहायक होती है, वह उसका परमात्मा से मिलन नहीं कराती है। जीवन की आवश्यकता आजीविका है, किन्तु आजीविका ही जीवन नहीं है।

(v) हमने सुना है, यह वाक्य उपनिषद्–परम्परा को उद्घाटित करने वाला है, क्योंकि उपनिषदों में निहित ज्ञान किसने किसको दिया, इसके विषय में कुछ उपनिषदों को छोड़कर, इसका उल्लेख नहीं हुआ है, इसीलिए यहाँ कहा गया है कि हमने इस विषय में सुना है, जो इस सम्बन्ध में गहन ज्ञान रखते हैं, वे ही ऐसा कहते हैं, हम नहीं, इससे ग्रन्थकार की पूर्णरूप से निरहंकार मनःवृत्ति प्रदर्शित हुई है।

टिप्पणी– (i) **विचचक्षिरे**– वि+ √चक्ष्+लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

(ii) **शुश्रुम**– √श्रु+लिट्लकार, उत्तमपुरुष, बहुवचन।

शाङ्करभाष्य– अन्यत् पृथगेव विद्यया क्रियते फलमिति आहुः वदन्ति, अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते फलमिति। तथोक्तम्– 'कर्मणा पितृलोकः', 'विद्यया देवलोकः' (बृ. उ.१।५।१६) इति श्रुतेः। इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नः अस्मभ्यं तत् कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः, तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः।।१०।।

भाष्यानुवाद– 'विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है', 'विद्या से उसके ऊपर आरूढ़ होते है' इसप्रकार की श्रुतियों के अनुसार वेद के ज्ञानी लोगों का कहना है कि विद्या से तो अन्य ही फल मिलता है तथा 'कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है' इस श्रुति के अनुसार अविद्या अर्थात् कर्म से अन्य ही फल मिलता है, ऐसा उनका कहना है। यद्यपि हमने धीर अर्थात् बुद्धिमानों के वचन भी सुने हैं, जिन आचार्यों ने हमसे उस कर्म तथा ज्ञान का विख्यान किया था अर्थात् उसकी व्याख्या की थी। अभिप्राय यही है कि यह उनका परम्परागत आगम है।।१०।।

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **विद्या–अविद्या की भिन्नता को जानने के फल** के विषय में कहते हैं कि–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।११।।

अन्वय– यः तत् उभयम् विद्याम् च, अविद्याम् च सह वेद, (सः) अविद्यया मृत्युम् तीर्त्वा, विद्यया अमृतम् अश्नुते।।११।।

अनुवाद– जो व्यक्ति उन दोनों विद्या तथा अविद्या को साथ-साथ यथार्थरूप में जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके, ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।।११।।

'चन्द्रिका'– अभिप्राय यही है कि जो साधक विद्या अर्थात् ज्ञान तथा उसके ज्ञानरूप साधन और उसके ज्ञानमार्ग तथा अविद्या अर्थात् कर्म, उसके कर्मरूप साधन या फिर कर्ममार्ग इन दोनों के ही विषय में भलीप्रकार एक साथ यथार्थरूप में जान लेता है, वह व्यक्ति कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान के माध्यम से मृत्यु अर्थात् संसार में आवागमन के

बन्धन को पार करके अर्थात् उसे पूर्णरूप से विच्छिन्न करके, ज्ञानमार्ग अर्थात् तत्त्वज्ञान या ब्रह्मज्ञान के सम्यक् अनुष्ठान से अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

विशेष–(i) श्रीमद्भगवद् गीता (4/16) का भी इस विषय में कहना है कि कर्म और अकर्म इसके रहस्य को समझने में बुद्धिमान् लोग भी भूल कर बैठते हैं।

(ii) विद्या अर्थात् देवता विषयक ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म विषयक ज्ञान इन दोनों को ही एक साथ एक ही व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य जानता है, उसे अविद्या अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्म से मृत्यु की प्राप्ति होगी, जबकि देवताज्ञान से यह अमृतत्व को प्राप्त करता है, देवत्व भाव की प्राप्ति ही अमृतत्व कहलाती है।

(iii) ग्रन्थकार यहाँ यही कहना चाहते हैं कि अविद्या जो वस्तुतः सांसारिकता को देने वाली है, उससे व्यक्ति मृत्यु को तो जीत लेता है, किन्तु इससे अमृतत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, उसके लिए तो परमात्म विद्या की आवश्यकता ही होगी।

(iv) इसप्रकार यहाँ अविद्या का विरोध न करते हुए, अन्ततः विद्या के पक्ष में ही विचार प्रस्तुत किए हैं।

(v) इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि जिस व्यक्ति में अपने ज्ञान की अहंभावना है, वह भी अमृतत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि विद्या का तो कार्य ही है, अहं तत्त्व को पूर्णरूप से विनष्ट कर देना।

टिप्पणी– (i) वेद– √विद्+लट्, प्रथमपुरुष, एकव., विकल्परूप।

(ii) **अश्नुते**–√अश् (व्याप्तौ)+लट्, आत्मने, प्रथमपुरुष, एकव.।

(iii) **तीर्त्वा**–√तॄ+क्त्वा। पारम् गत्वा, इत्यर्थः, इति।

शाङ्करभाष्य– यत एवमतो विद्यां च अविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तत् एतदुभयं सह एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते–

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युम्, स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यम्, तदुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेन अमृतं देवतात्मभावम् अश्नुते प्राप्नोति । तद्ध्यमृतमुच्यते, यद्देवतात्मगमनम्।।११।

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते–

भाष्यानुवाद– क्योंकि ऐसा है, इसलिए विद्या एवं अविद्या अर्थात् देवता विषयक ज्ञान और कर्म इन दोनों को जो एक साथ एक ही व्यक्ति द्वारा अनुष्ठान किए जाने योग्य जानता है, इसप्रकार समुच्चय करने वाले को ही एक पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रमशः प्राप्त होता है, अब यही कहा जा रहा है।

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु अर्थात् मृत्यु शब्द से वाच्य स्वाभाविक कर्म तथा ज्ञान, इन दोनों को तरकर अर्थात् पार करके विद्या यानी देवताज्ञान से अमृत अर्थात् देवात्म भाव को प्राप्त हो जाता है, जो देवत्व भाव की प्राप्ति है, वही वस्तुतः 'अमृत' कहा जाता है।।११।।

इसके बाद अब व्यक्त एवं अव्यक्त उपासनाओं का 'समुच्चय' करने की अभिलाषा से प्रत्येक की निन्दा की जाती है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **अज्ञानियों की दुर्गति** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।१२।।

अन्वय– ये असम्भूतिम् उपासते, (ते) अन्धम् तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्याम् रताः, ततः उ भूयः इव ते तमः ।।१२।।

अनुवाद– जो लोग विनाशशील देव, पितर आदि की उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जबकि जो अविनाशी परमात्मा में मिथ्याभिमान से निरत हैं, वे तो उनसे भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।।१२।।

'चन्द्रिका'– इस संसार में जो लोग विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति आदि इस लोक की भोग सामग्रियों में आसक्त रहकर,

उन्हें सुख का कारण मानते हैं तथा परलोक में देव, पितर आदि के उच्च लोकों की प्राप्ति के लिए अथवा इन सांसारिक सामग्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से उनकी विविध प्रकार से उपासना करते हैं, उन्हीं के अर्चन तथा सेवा में संलग्न रहते हैं, इसप्रकार के वे लोग अज्ञानरूप घोर अन्धकार में ही प्रवेश करते हैं, क्योंकि भोगों में आसक्त ये उपासक तो वस्तुतः अपनी उपासना के फलस्वरूप, विभिन्न देवताओं के लोकों को तथा विभिन्न प्रकार की योनियों को प्राप्त करते हैं। जबकि जो अविनाशी परमात्मा में मिथ्याभिमान से निरत हैं, वे तो उनसे भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अभिप्राय यही है कि दूसरी श्रेणी के लोग जो शास्त्र के तात्पर्य को और भगवान् के दिव्य गुण एवं प्रभाव के रहस्य को न समझते हुए, न तो नित्य, नैमित्तिकादि क्रियाओं को ही करते हैं और भोगों में आसक्ति के कारण शास्त्रों में बतायी गयी देवों की उपासना में ही संलग्न रहते हैं, जबकि ये स्वयं को ईश्वर का उपासक बताकर, सरल हृदय लोगों से अपनी पूजा कराने लगते हैं।

ऐसे लोग मिथ्या अभिमान के कारण स्वयं में ही देवत्व की स्थापना कर लेते हैं और देवों को तुच्छ बताते हैं। यहाँ तक कि गुरुजनों का सम्मान करना भी छोड़ देते हैं, ऐसे लोग स्वयं को ईश्वर के समकक्ष मानते हुए, दुराचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं और अपने ही दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए कूकर, शूकर आदि निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करते है, और संसारचक्र में ही फँसे रहते हैं। इतना ही नहीं, ये लोग तो अपने कर्मों के फल स्वरूप रौरव तथा कुम्भीपाक नामक घोर नरक की यातनाएँ भी भोगते हैं। यही वस्तुतः उनका विनाशशील देवों की उपासना करने वालों की अपेक्षा अधिकतम घोर अन्धकार में प्रवेश करना है।

विशेष–(i) इस मन्त्र सहित आगे के दो मन्त्रों में सम्भूति तथा असम्भूति दो तत्त्वों की व्याख्या की गयी है।

(ii) यहाँ प्रयुक्त असम्भूति से अभिप्राय ऐसे विनाशशील देव, पितर, **मनुष्यादि योनियों एवं भोग–सामग्रियों से है, जिनकी पूर्णरूप से**

सत्ता न हो, जबकि 'सम्भूति' पद यहाँ पूर्ण सत्तावान्, संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करने वाले अविनाशी परमब्रह्म के लिए प्रयोग किया गया है, इसी को जानने से व्यक्ति को अमृत की प्राप्ति होती है।

(iii) मिथ्या अभिमान के साथ अविनाशी परमात्मा का चिन्तन भी व्यक्ति को घोर अन्धकार में प्रवेश कराने वाला अर्थात् जन्म–मृत्यु के बन्धन में ही डालने वाला है।

(iv) उपासना पद का अर्थ पास में बैठना (उप+आस) है, जब हम रसास्वादन करते हैं तो रसनेन्द्रिय के पास में बैठते हैं, इसीप्रकार नास्तिक लोग उपासना करते हुए ईश्वर के सान्निध्य में न बैठकर प्रकृति के निकट बैठने का प्रयास करते हैं। प्रकृति से अभिप्राय पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि से ग्रहण करना चाहिए।

(v) सांख्य की दृष्टि से सम्भूति का अर्थ अव्यक्त प्रकृति तथा असम्भूति का अर्थ महत् तत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त करना होगा, जिसमें प्रायः लोग आसक्त रहते हैं।

(vi) प्रकृति तथा कर्म प्रकृति, इन दोनों की उपासना अन्धकार तथा घोर अन्धकार को देने वाली है, जबकि ब्रह्म की उपासना से व्यक्ति को अमरत्व की प्राप्ति होती है।

(vii) यह मन्त्र वस्तुतः व्यक्ति को भौतिक मार्ग पर चलने से सावधान करता है, साथ ही, यह धार्मिक मदान्धता की भी निन्दा करने वाला है, अहंमन्यता का त्याग ही ईश्वर के निकट ले जाता है।

टिप्पणी– (i) **उपासते–** उप+ √आस्+लट्, आत्मने, प्र.पु., ए.व.।

(ii) **अन्धन्तमः–** अन्ध+तमप् (नुमागम, छान्दस् प्रयोग)

शाङ्करभाष्य– अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिम्, सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्यातामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकाम् उपासते, ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमः अदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततः तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः ते प्रविशन्ति, ये उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः।।१२।।

अधुना उभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह–

भाष्यानुवाद– जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सम्भवन अर्थात् उत्पन्न होने का नाम ही सम्भूति है, वह जिस कार्य का धर्म है, उसे 'सम्भूति' कहते हैं, जबकि उससे अन्य असम्भूति अर्थात् प्रकृति यानी कारण अथवा अव्याकृत की जो वस्तुतः कामना एवं कर्म की बीज है, उसकी जो लोग उपासना करते हैं, वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म में रत हैं, वे तो उससे भी गहरे मानो गहनतम अन्धकार में प्रवेश करते हैं।।१२।।

इसके पश्चात् अब दोनों उपासनाओं के समुच्चय का कारणरूप जो उन दोनों के फलों का भेद है, उसका वर्णन किया जाता है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **कार्यब्रह्म की उपासना के फल** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।

अन्वय– सम्भवात् अन्यत् एव आहुः, असम्भवात् अन्यत् आहुः इति धीराणाम् शुश्रुमः, ये नः तत् विचचक्षिरे।।१३।।

अनुवाद– विद्वान् लोग अविनाशी ब्रह्म की उपासना से दूसरा ही फल कहते हैं तथा विनाशशील देव–पितर आदि की उपासना से दूसरा ही फल बताते हैं, हम इसप्रकार धीर पुरुषों के वचनों को सुनते आए हैं, जिन्होंने हमें उस विषय की व्याख्या करके भलीप्रकार समझाया था।।१३।।

'चन्द्रिका'– यहाँ तक दो स्थितियों का विश्लेषण करने के बाद तीसरी स्थिति को कहते हैं कि जिन लोगों ने ब्रह्मतत्त्व को पा लिया है, ऐसे विद्वान् लोग तो अविनाशी, निर्विकार, निराकार परमपिता परमात्मा अर्थात् परमब्रह्म की उपासना करने से दूसरे ही प्रकार के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

इसके ठीक विपरीत जो लोग विनाशशील प्रकृति अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों देव–पितर आदि की **उपासना करते हैं, वे तो दूसरे**

ही प्रकार के फल को प्राप्त करते हैं, ऐसा बताते हैं, हम तो वस्तुतः इसीप्रकार के धीर पुरुषों अर्थात् आत्मज्ञानियों के तात्त्विक वचनों को आज तक सुनते आए हैं, जिन्होंने हमें इस गम्भीर विषय को विस्तार–पूर्वक व्याख्या करके भलीप्रकार समझाया था।

विशेष–(i) अन्त में निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि अविनाशी परमब्रह्म की उपासना ही यथार्थ है, जिसकी प्राप्ति हमें सर्व शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सम्पूर्ण संसार के कर्ता, धर्ता, हर्ता के प्रति नित्य श्रद्धा, भक्ति और निर्मल हृदय में उसके गुणगान से होती है।

(ii) इसप्रकार की सच्ची उपासना से ही व्यक्ति को अविनाशी परब्रह्मरूप पुरुषोत्तम की प्राप्ति सहज हो जाती है, इस विषय में गीता (9/34) भी अपनी सहमति प्रदान करती है।

(iii) इसके विपरीत ईश्वरोपासना का मात्र ढोंग करने वाले दम्भियों को मिलने वाला फल, सच्चे उपासकों को मिलने वाले फल की अपेक्षा सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण होता है।

(iv) इसके अतिरिक्त एक श्रेणी उन लोगों की होती है जो वेद, शास्त्रादि की आज्ञा के अनुसार देवता, पितर, माता, पिता, आचार्य और ब्रह्मज्ञानियों की सेवा करते हुए, उन्हें भगवान् की आज्ञा मानकर, निष्कामभाव से कर्म करते हैं, इससे उनके अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है तथा भगवान् की कृपा पाकर, इस संसार–सागर से हमेशा के लिए तर जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

(v) इसी प्रसङ्ग में यह भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि विनाशशील देवों की सकाम उपासना से प्राप्त होने वाला फल उक्त फल की अपेक्षा सर्वथा विपरीत होता है, क्योंकि यह तो जीव को सांसारिक बन्धनों में बाँधने वाला ही है।

(vi) मन्त्र के अन्तिम चरण में ग्रन्थकार ने अपनी बात पर बल देने के लिए कहा है कि ये वचन हमारे नहीं हैं, अपितु हमने भी ब्रह्म विषयक गहन ज्ञान रखने वाले विद्वानों के श्रीमुख से ही सुने हैं, जिन्होंने इस तत्त्व को समझाने के लिए हमसे कहा है।

(vii) प्रस्तुत मन्त्र में सम्भवन् और असम्भवन् की उपासना करने वालों के अलग–अलग परिणामों को बताया गया है।

(viii) आशय यही है कि ब्रह्म का जो प्रकट कार्य रूप है, वह सुखदायी तो हो सकता है, किन्तु उससे मुक्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि उनसे स्वर्ग की प्राप्ति तो सम्भव है, ब्रह्मप्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वर्ग से सुख की ही प्राप्ति सम्भव है, ब्रह्मानन्द की नहीं।

टिप्पणी– (i) **विचचक्षिरे**– वि+√चक्ष्+लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

(ii) **शुश्रुम**– √श्रु+लिट्लकार, उत्तमपुरुष, बहुवचन।

(iii) **आहुः**– √ब्रू+लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन, विकल्परूप।

शाङ्करभाष्य– अन्यदेव पृथगेव आहुः फलं सम्भवात् सम्भूतेः कार्य–ब्रह्मोपासनात् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणम् व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा च अन्यदाहुरसम्भवात् असम्भूतेः अव्याकृतात् अव्याकृतोपासनात् यदुक्तम् 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' (ई.उ. ९) **इति, प्रकृतिलय इति च पौराणिकै–रुच्यते, इति एवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्या–कृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः।।१३।।**

यत एवम्, अतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्तः एकैक–पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह–

भाष्यानुवाद–सम्भूति अर्थात् कार्य ब्रह्म की उपासना से मिलने वाला, अणिमादि ऐश्वर्यरूप फल वस्तुतः अन्य ही बताया गया है और असम्भूति अर्थात् अव्याकृत से यानी अव्याकृत प्रकृति की उपासना से दूसरे ही फल का कथन किया है, जिसका उल्लेख पूर्व में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इत्यादि वाक्य से कहा जा चुका है। पौराणिक लोग जिसे 'प्रकृतिलय' कहते हैं, हमने इसप्रकार का बुद्धिमानों का वचन सुना है, जिन्होंने हमसे उसका वर्णन किया था अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त उपासनाओं के फल का व्याख्यान किया था।।१३।।

क्योंकि ऐसा है, इसीलिए सम्भूति तथा असम्भूति की उपासनाओं का 'समुच्चय' उचित ही है। इसके अतिरिक्त एक पुरुषार्थमूलक होने से भी उनका 'समुच्चय' उचित है, आगे इसी को कहते हैं–

अवतरणिका– यहाँ तक प्राकृतिक पदार्थों की उपासना का फल बताया, इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **संसार के व्यावहारिक पक्ष** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

अन्वय– यः तत् उभयम् सम्भूतिम् च, विनाशम् च सह वेद, विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते।।१४।।

अनुवाद– जो व्यक्ति उन दोनों अर्थात् अविनाशी परमात्मा तथा विनाशशील देवादि को एक साथ ही यथार्थरूप से जान लेता है, वह विनाशशील देवादि की उपासना से मृत्यु को पार करके और अविनाशी परमेश्वर की उपासना द्वारा अमृतत्व का प्राप्त कर लेता है।।१४।।

'चन्द्रिका'– जो व्यक्ति इस बात को भलीप्रकार समझ लेता है कि वह परमब्रह्म, नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्व श्रेष्ठ हैं, इसी के साथ वह यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ और सांसारिक भोग विषयक सामग्रियाँ हैं, ये सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म–मृत्युशील होने के कारण महान् दुःख की कारण हैं, किन्तु फिर भी इनमें जो भी सत्ता, स्फूर्ति एवं शक्ति हमें दृष्टिगोचर होती है, वह सब तो उस परमब्रह्म की ही है, इसलिए परब्रह्म की उपासना ही उचित है।

संसाररूपी चक्र को सुचारुरूप से चलाए रखने के लिए ही, परमात्मा की प्रसन्नता के लिए यथा स्थान, यथायोग्य पूजा करने के लिए ही भगवान् ने अपनी शास्त्रों रूपी वाणी से इन्हें आज्ञा प्रदान की है। ऐसा व्यक्ति ही इन दोनों को एक साथ ही यथार्थरूप से जान लेता है, जिसके परिणामस्वरूप वह इहलौकिक तथा पारलौकिक लोकों के भोगों में आसक्त न होकर, इनकी कामना तथा इनके प्रति ममत्व की भावना को हृदय से पूर्णतया निकालकर, इन दोनों की ही शास्त्रोक्त रीति से सेवा उपासनादि करता है।

ऐसा करने से प्रथमतः तो उसकी जीवनयात्रा सुखपूर्वक चलती है तथा उसके आन्तरिक विकारों का पूर्णरूप से विनाश होकर, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, इसप्रकार परमात्मा की कृपा को प्राप्त करके वह अत्यधिक सरलता से मृत्यु को पार कर लेता है तथा विनाशशील देवों आदि की निष्काम भाव से उपासना के साथ ही, अविनाशी परमेश्वर की उपासना द्वारा अमृतत्व रूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है, यही उसका मोक्ष भी है।

विशेष–(i) प्रस्तुत मन्त्र में इससे पूर्व प्रयुक्त मन्त्र संख्या 11 की बात को ही किञ्चित् भिन्नरूप से कहा गया है, इसीलिए उत्तरार्द्ध में पर्याप्त शब्द–साम्य भी है।

(ii) यहाँ प्रयुक्त सम्भूति से अविनाशी परमेश्वर से तथा विनाशी से विनाशशील देवादि से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। इन दोनों को भिन्न, किन्तु यथार्थरूप से जानने पर व्यक्ति क्रमशः अमृतत्व तथा मृत्यु को प्राप्त करता है, क्योंकि देवतादि को तो भगवान् ने ही संसार चक्र को सुचारुरूप से चलाने के लिए विविध स्थानों पर नियुक्त किया है।

(iii) संसार के सभी पदार्थों में ईश्वर विद्यमान है, ऐसी भावना रखते हुए, व्यक्ति को सांसारिक कर्मों को त्याग भावना से करना चाहिए, यही वस्तुतः सत्यमार्ग है।

(iv) सांसारिक भोगों के प्रति आसक्ति तथा ममत्व की भावना ही व्यक्ति को सांसारिकता से जोड़ती है, इसलिए इसका त्याग अनिवार्य है, जिससे व्यक्ति के उद्धार का मार्ग प्रशस्त होता है।

(v) इसप्रकार प्रस्तुत मन्त्र व्यक्ति के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के जीवन के बीच में होने वाले विरोध का समाधान प्रस्तुत करता है, जिसका पालन करके व्यक्ति मुक्त हो जाता है, क्योंकि इसका अन्तिम लक्ष्य भी तो यही है।

टिप्पणी– (i) वेद– √विद्+लट्, प्रथमपुरुष, एकव., विकल्परूप।

(ii) **अश्नुते**– √अश् (व्याप्तौ)+लट्, आत्मने, प्रथमपुरुष, एकव.।
(iii) **तीर्त्वा**– √तृ+क्त्वा। पारम् गत्वा, इत्यर्थः, इति।

शाङ्करभाष्य– सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह, विनाशेन, विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेनोच्यते 'विनाशः' इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा, हिरण्यगर्भोपासनेनाप्ति ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य, असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणम् अश्नुते।

'सम्भूतिं च विनाशं च' इत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः, प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात्।।१४।।

भाष्यानुवाद– जो व्यक्ति सम्भूति एवं विनाश, इन दोनों की उपासना के समुच्चय को जानता है, वह जिसके कार्य का धर्म विनाश है और उस धर्मी से अभेद होने से जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है। उस विनाश से अर्थात् उसकी उपासना से, अधर्म एवं कामना आदि दोषों से उत्पन्न हुए, अनैश्वर्यरूप मृत्यु को पार करके, हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्तिरूप फल की ही प्राप्ति होती है, इसलिए उससे अनैश्वर्य आदि मृत्यु को पार करके, असम्भूति यानी अव्यक्तोपासना से प्रकृतिलय रूप अमृत को प्राप्त कर लेता है।

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पदसमूह में प्रकृतिलयरूप फल को बताने वाली श्रुति के अनुरोध से अवर्ण का लोपपूर्वक निर्देश हुआ ही समझना चाहिए।।१४।।

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्; एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तम् 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः।

तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशने अत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्।

तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया, तदुक्तम्– 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (ई. उ. ११) **इति,**

भाष्यानुवाद– शास्त्र द्वारा बताए हुए प्रकृतिलय पर्यन्त सम्पूर्ण फल गौ, भूमि, सुवर्णादि, मानुष सम्पत्ति एवं देवज्ञानरूप दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होने वाले हैं। यहीं तक संसार की गति है। इससे आगे पूर्व में बताए गए 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इत्यादि मन्त्र में बताया हुआ, सभी एषणाओं के त्यागरूप संन्यास का फल सर्वात्मभाव ही है। इसप्रकार यहाँ प्रकृति–निवृत्तिरूप दो प्रकार का वेदार्थ प्रकाशित किया गया है।

उनमें विधि–प्रतिषेधरूप सम्पूर्ण प्रवृत्ति लक्षण वेदों के अर्थ का प्रकाशन करने में प्रवर्ग्य पर्यन्त ब्राह्मणभाग उपयोगी है एवं निवृत्ति लक्षण वेदों के अर्थ को अभिव्यक्त करने में इससे आगे बृहदारण्यक का उपयोग किया जाता है।

उनमें जो व्यक्ति गर्भाधान से लेकर मरणपर्यन्त कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहता है, उसे अपरब्रह्म विषयक विद्या के साथ ही जीवित रहना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है कि 'जो व्यक्ति विद्या एवं अविद्या इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्यारूप कर्म से मृत्यु को पार करके, विद्यारूपी देवता ज्ञान के माध्यम से अमृत को प्राप्त कर लेता है।'

तत्र सोऽधिकारी केन मार्गेणामृतत्वमश्नुते इत्युच्यते– 'तद्यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ. उ. ५।५।२) **एतदुभयं सत्यम्। ब्रह्मोपासीनः यथोक्तकर्मकृच्च यः, सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते 'हिरण्मयेन पात्रेण....' इति–**

भाष्यानुवाद– इसके बाद वह अधिकारी अमृतत्व किस मार्ग से प्राप्त करता है, इस विषय में कहते हैं कि– वह जो सत्य है, वही यह आदित्य है और जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है एवं जो पुरुष दक्षिण नेत्र में है, वे दोनों ही सत्य हैं, जो उस ब्रह्म की उपासना करने

वाला तथा शास्त्रों में कहे गए कर्मों को करने वाला है, वह अन्तकाल उपस्थित होने पर, इस आदित्य मण्डल में स्थित आत्मा से 'हिरण्मयेन पात्रेण' इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इसप्रकार आत्मप्राप्ति के द्वार की याचना करता है—

अवतरणिका— इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **अन्तकाल में प्रार्थना के प्रकार** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

अन्वय— हे पूषन्! सत्यस्य मुखम् हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितम्, सत्य—धर्माय दृष्टये, तत् त्वम् अपावृणु।।१५।।

अनुवाद— हे सभी का भरण—पोषण करने वाले, परमात्मन्! सत्यस्वरूप आपका मुख, ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप स्वर्णिम पात्र के द्वारा आच्छादित है, सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझे दर्शन कराने के लिए, आप उस आवरण को हटा लीजिए।।१५।।

'चन्द्रिका'— यहाँ पर परमात्मा को पाने के लिए अत्यधिक उत्सुक अथवा व्याकुल भक्त अत्यन्त दीनभाव से उनसे प्रार्थना कर रहा है कि हे सम्पूर्ण संसार का भरण—पोषण करने वाले, परमात्मन्! आप तो सत्यरूप तथा परमानन्द स्वरूप हैं, मैं भी आपके श्रीमुख का दर्शन करने का प्रबल अभिलाषी हूँ, किन्तु आपका यह मुख तो ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल रूप स्वर्णिम आभा वाले पात्र के माध्यम से ढ़का हुआ है, इसलिए आपसे अत्यधिक विनम्रतापूर्वक प्रार्थना है कि सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझे दर्शन कराने के लिए, आप अपने मुख से इस आवरण को दूर कर दीजिए, जिससे मैं आपके श्रीमुख का दर्शन करके मुक्त हो सकूँ।

विशेष—(i) स्वर्ण के समान देदीप्यमान वस्तु को हिरण्मय कहते हैं, इसीलिए यहाँ हिरण्मय से अभिप्राय ज्योतिर्मय से है।

(ii) दूसरे शब्दों में, उस ज्योतिर्मय पात्र के माध्यम से सत्यरूप परमात्मा का मुख आच्छादित है, यहाँ उसी को अनावृत करने की प्रार्थना भक्त द्वारा की गयी है।

(iii) इस मुख के अनाच्छादन का उद्देश्य उसके दर्शन करना है, क्योंकि उसको देख लेने मात्र से ही साधक के सभी कष्ट दूर हो जाते हैं और वह असीम आनन्द में निमग्न हो जाता है।

(iv) यह प्रार्थना परमात्मा से उस समय की गयी है, जब साधक का मोह इस संसार से पूर्णतया हट गया है, वह परमात्म दर्शन के लिए व्याकुल है, छटपटा रहा है तथा उसका शरीरपात होने वाला है।

(v) यहाँ सभी का भरण—पोषण करने वाले और सत्यरूप परमात्मा के इन दो विशेषणों का प्रयोग करते हुए, उनकी महिमा तथा स्वरूप दोनों के विषय में उल्लेख किया गया है।

(vi) उपनिषद्कार की कल्पना है कि ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल एक विशाल पात्र है, जिससे परमात्मा का मुख ढ़का हुआ है, उसके हटने पर ही परमपिता परमेश्वर के दर्शन सम्भव हैं, इसीलिए अत्यधिक विनम्रभाव से यहाँ सत्यधर्मा साधक ने परमात्मा से प्रार्थना की है।

(vii) शास्त्रोक्त सत्यधर्मों का अनुष्ठान करना, वस्तुतः साधक की महत्त्वपूर्ण कसौटी है, ऐसा करने पर ही वह परमात्मा के दर्शन करने का पात्र होता है, यह बात भी यहाँ पर कही गयी है।

(viii) 'अपावृणु' क्रिया पद के आरम्भ में दो उपसर्गों का प्रयोग हुआ है, इनमें अप उपसर्ग दूर करने के लिए तो आ उपसर्ग समन्तात् अर्थ में प्रयुक्त हआ है अर्थात् हे प्रभो! आप इस आवरण को पूर्णरूप से हटा लीजिए, जिससे मैं आपके दर्शन निर्मिमेष नेत्रों से कर सकूँ।

टिप्पणी— (i) **अपावृणु**— अप+आ+√वृञ् (वरणे)+लोट्, म.पु.,ए.व.।

(ii) **हिरण्मय**— हिरण्य+मयट्, य लोप वैदिक। अभि+√धा+क्त।

(iii) **सत्यधर्माय**— सत्यश्चासौ धर्मः सत्यधर्मः तस्मै, कर्मधारय।

शाङ्करभाष्य— हिरण्मयमिव हिरण्मयम्, ज्योतिर्मयमित्येतत्, तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्येव आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः अपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम्; तत् त्वं हे पूषन् अपावृणु अपसारय, सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्;

अथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठाने, दृष्टये तव सत्यात्मन् उपलब्धये।।१५।।

भाष्यानुवाद– जो सुवर्ण के समान हो उसे 'हिरण्मय' कहते हैं अर्थात् जो ज्योतिर्मय है, उस ढकने रूप पात्र से ही आदित्यमण्डल में स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्म का मुख यानी द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन्! सत्य की उपासना करने के कारण जिसका सत्य ही धर्म है, ऐसा मैं सत्यधर्मा हूँ, उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे प्रति दृष्टि अर्थात् अपने सत्यस्वरूप की उपलब्धि के लिए तू उसे अनावृत कर दे अर्थात् हमारे सामने से उस पात्र को हटा दे।।१५।।

अवतरणिका– इसके बाद **पूषन् देव को ही सम्बोधित करते हुए फिर से** वैदिक ऋषि कहते हैं कि–

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।

अन्वय– पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य! रश्मीन् व्यूह, तेजः समूह, यत् ते कल्याणतमम् रूपम्, ते तत् पश्यामि, यः असौ, असौ पुरुषः, अहम् सः अस्मि।।१६।।

अनुवाद– हे सभी का पोषण करने वाले, ज्ञानस्वरूप, सभी का नियन्त्रण करने वाले, ज्ञानियों के लक्ष्यरूप, प्रजापति के प्रिय! अपनी रश्मियों को एकत्र कीजिए, अपने इस तेज को सिमेट लीजिए, जो आपका अत्यधिक कल्याणमय स्वरूप है, आपके उस दिव्यरूप को मैं देख रहा हूँ, जो वह सूर्य का आत्मा है, वह परमपुरुष आपका ही स्वरूप है और मैं भी वही हूँ।।16।।

'चन्द्रिका'– भक्त की विनती को सुनकर, परम दयालु परमात्मा ने अपने आवरण को दूर करके अपने अतिशय सौम्य स्वरूप को प्रकट कर दिया है, तो साधक भावविभोर होकर कहता है कि–

हे सभी का भरण–पोषण करने वाले, साक्षात् ज्ञानस्वरूप, संसार के सभी प्राणियों या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर नियन्त्रण करने वाले, ज्ञानियों के लक्ष्यरूप, क्योंकि सभी ज्ञानी लोगों के जीवन का लक्ष्य, उस परमात्मा को ही प्राप्त करना है, ऐसे गुणों से सम्पन्न, हे हिरण्यगर्भ प्रजापति के अत्यन्त प्रिय! आप अपनी सभी किरणों को सिमेट लीजिए, अर्थात् इकट्ठा कर लीजिए, आप अपने इस तेज को सिमेट लीजिए, जो वस्तुतः अत्यधिक कल्याणों को प्रदान करने वाला है।

अपने भक्त की बातों को सुनकर श्रीभगवान् दयार्द्र होकर अपनी तेजस्वी किरणों के तेज को किञ्चिन्मात्र कम कर देते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप भक्त अपने आराध्य के दर्शन करते हुए, भाव विभोर होकर कहता है कि हे प्रभो! इस समय मैं आपके उस दिव्यरूप के दर्शन कर रहा हूँ, क्योंकि जिस सूर्य को हम अपने नेत्रों से प्रतिदिन देखते हैं, यह परमेश्वर उसी तेजस्वी सूर्य का आत्मा है अर्थात् सूर्य देवता भी इस परमब्रह्म के तेज से ही दीपित होते हैं, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से वही रूप तो हे परमपुरुष! आपका ही स्वरूप है और मैं भी आपका दर्शन प्राप्त करके ब्रह्ममय अर्थात् वही हो गया हूँ। दूसरे शब्दों में, इस समय मुझे 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति भी हो रही है।

विशेष–(i) परमेश्वर के गुणों का उल्लेख करने के लिए यहाँ उनके कुल पाँच विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जैसे– (1) वे अपने सभी भक्तों का पोषण करने वाले हैं, (2) मुख्यरूप से ज्ञानस्वरूप हैं (3) संसार के सभी प्राणियों यहाँ तक कि देवों के भी नियन्ता हैं (4) सभी भक्तों एवं ज्ञानियों के जीवन के परम लक्ष्य हैं, क्योंकि ये दोनों ही उन्हें प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयासरत रहते हैं (5) प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के अत्यधिक प्रिय हैं।

(ii) साधक की परमेश्वर के प्रति तन्मयता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, जो उसके भावविभोर रूप की प्रदर्शिका है।

(iii) परमेश्वर की कृपा से ही भक्त उनके दर्शन करने में सक्षम हो पाता है, उसके अभाव में नहीं, यह प्रदर्शित किया गया है।

(iv) आत्मदर्शन के बाद की अनुभूति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो वस्तुतः उपनिषद्कार के स्वयं के अनुभव पर आधारित प्रतीत होती है।

(v) सामान्य रूप से हम आकाश के एक सूर्य से परिचित हैं, किन्तु वैज्ञानिक मान्यता है कि हमारे ब्रह्माण्ड में हजारों सूर्य विद्यमान हैं, कुछ तो इस सूर्य से भी कहीं अधिक बड़े हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि जिस सूर्य की बात यहाँ की गयी है, वह उन सभी में अग्रणी है।

(vi)कुछ विद्वानों ने 'एकर्षे' को यम का विशेषण मानकर व्याख्या की है, किन्तु प्रस्तुत व्याख्या अपेक्षाकृत प्रभावी प्रतीत हो रही है, क्योंकि इससे परमपिता परमेश्वर के ज्ञानरूप का भी कथन हो रहा है।

(vii) यह मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में प्रयुक्त नहीं हुआ है, जिसके कारण यहाँ प्रयुक्त ईशोपनिषद् में कुल सत्रह मन्त्र ही विद्यमान हैं। (द्रष्टव्य परिशिष्ट) इससे उपनिषद्कार के आदित्य सम्प्रदाय का होने की भी पुष्टि हो रही है।

टिप्पणी– (i) **व्यूह–** वि+ √ऊह्, लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन।

(ii) **समूह–** सम्+ √ऊह्, लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन।

(iii) **पुरुषः–** पुरि शेते, इति, इसका अभिप्राय आत्मा से है।

(iv) **सूर्यः–** सरति, इति, √सृ (गतौ)+क्यप्, निपातन से।

शाङ्करभाष्य– हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविः। तथा एक एव **ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे! तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः। हे यम! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात्सूर्यः। हे सूर्य! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे प्राजापत्य! व्यूह विगमय रश्मीन् स्वान्। समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजः तावकं ज्योतिः।**

यत् ते तव रूपं कल्याणतमम् अत्यन्तशोभनम्, तत् ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि। किञ्च, अहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसौ आदित्यमण्डलस्थः व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्, पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत् समस्तमिति पुरुषः; पुरि शयनाद्वा पुरुषः। सोऽहम् अस्मि भवामि।।१६।।

भाष्यानुवाद– हे पूषन्! संसार का पोषण करने के कारण सूर्य पूषा है। इसीप्रकार वह अकेला ही चलता है इसलिए एकर्षि भी है, हे एकर्षे! सभी का नियमन करने से वह यम भी है, हे यम! इसके अतिरिक्त किरण, प्राण तथा रसों को स्वीकार करने से वह सूर्य है, इसलिए हे सूर्य! प्रजापति का पुत्र होने से वह प्राजापत्य है, इसलिए हे प्राजापत्य! आप अपनी किरणों को दूर कीजिए, अपने तेज अर्थात् सन्तप्त करने वाली ज्योति को पुञ्जीभूत अर्थात् एकत्र यानी शान्त कीजिए।

यह जो तुम्हारा अत्यधिक कल्याणमय अर्थात् परम सुन्दर स्वरूप है, उस तुझे मैं आत्मा की कृपा से देखता हूँ और इस बात की मैं तुझसे सेवक के समान याचना नहीं करता हूँ, क्योंकि यह जो व्याहृति रूप अङ्गों वाला, आदित्य मण्डल में स्थित पुरुष है, जो पुरुष के आकार वाला होने से या फिर जो प्राण एवं बुद्धिरूप से सम्पूर्ण संसार को पूर्ण किए हुए है अथवा जो शरीररूपी नगर में शयन करने से पुरुष है, वह वस्तुतः मैं ही हूँ।।१६।।

अवतरणिका– इसके पश्चात् वैदिक ऋषि **साधक के स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के विघटन की भावना** के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम् ।
ऊँ क्रतो स्मर कृत ँ्स्मर क्रतो स्मर कृत ँ्स्मर।।१७।।

अन्वय– अथ वायुः अमृतम् अनिलम् (प्रविशतु), इदम् भस्मान्तम् (भूयात्), शरीरम् ओम् क्रतो! स्मर, कृतम् स्मर, क्रतो! स्मर, कृतम् स्मर।।१७।।

अनुवाद– इसके बाद अब मेरे प्राण तथा इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टिरूप वायु में प्रविष्ट हो जाएँ और यह स्थूल शरीर अग्नि में प्रवेश करके भस्म हो जाए, हे सच्चिदानन्दघन, यज्ञमय प्रभु! आप मुझे स्मरण कीजिए, मेरे द्वारा किए गए कर्मों को स्मरण कीजिए। हे यज्ञमय

प्रभो! आप मुझे स्मरण कीजिए, मेरे द्वारा किए गए कर्मों को स्मरण कीजिए।।१७।।

'चन्द्रिका'— यहाँ पर परमधाम की ओर प्रस्थान करने वाले साधक की मनोकामना को प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि परमब्रह्म में विलीन होने से पहले उसके सूक्ष्म शरीर में स्थित प्राण तथा इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि रूप वायु में प्रविष्ट होती हैं, जिनके लिए यहाँ पर ऐसा करने के लिए कहा जा रहा है। इसीप्रकार पञ्चभूतों से निर्मित स्थूल शरीर जो अग्निसात् होकर अपने–अपने तत्त्वों में प्रवेश कर जाता है, उसके लिए यहाँ भस्म होने का कथन किया गया है।

इसके बाद साधक अपने आराध्य को सम्बोधित करके कहता है कि हे सच्चिदानन्दघन, यज्ञमय प्रभु! इस अवसर पर आप मुझे स्मरण कीजिए अर्थात् मेरे ऊपर कृपा कीजिए, साथ ही, इसी समय मेरे द्वारा पूर्व में किए गए कर्मों को भी स्मरण कीजिए। इसी कथन की पुनरुक्ति करते हुए साधक फिर से कहता है कि हे यज्ञमय प्रभो! आप मुझे स्मरण कीजिए, मेरे द्वारा किए गए सभी कर्मों को स्मरण कीजिए।

विशेष—(i) एक ही वाक्य का दो बार प्रयोग अपने कथ्य पर बल देने के लिए किया गया है।

(ii) इस मन्त्र में परमधाम को जाने के इच्छुक साधक ने अपने प्राण, इन्द्रिय तथा शरीर इन सभी को अपने आत्मतत्त्व से सर्वथा भिन्न समझते हुए, उन–उनसे अपने–अपने उपादान कारण में हमेशा के लिए विलीन होने की कामना की है, दूसरे शब्दों में, यह अपने सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही प्रकार के शरीरों का पूर्णरूप से विघटन का अभिलाषी है, तभी उसकी परमधाम प्राप्ति की इच्छा पूरी हो सकती है।

(iii) परमात्मा की कल्पना यज्ञरूप में करते हुए उन्हें सम्बोधित किया गया है, संसार की उत्पत्ति आदि एक 'यज्ञ' ही तो है, जो परमेश्वर की इच्छा या सङ्कल्प से उत्पन्न होकर इसके प्रलय के साथ पूरा होता है।

(iv) जीवन की मुक्ति में कर्मों का अत्यधिक महत्त्व है, श्रेष्ठ कर्मों के साथ–साथ उन सभी का भस्म होना अनिवार्य है, क्योंकि कर्मों के शेष रहते तक शरीर की निवृत्ति का निषेध किया गया है।

(v) भक्त के प्रति कृपा होने पर ही भगवान् की दृष्टि उसके ऊपर पड़ती है, जिसे यहाँ 'स्मरण' करने की बात से कहा गया है अर्थात् आपकी कृपा मेरे ऊपर हमेशा बनी रहे। मेरे सभी कर्मों को स्मरण करते हुए, उन्हें पूर्णरूप से जलाकर मुझे आत्मसात् कर लें।

(vi) ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त अपने आराध्य की शरण में पहुँच गया है, तभी उसने भावविभोर होकर, उनसे स्वयं की शरण में लेने की करुणामयी प्रार्थना की है।

(vii) जीव, मृत्यु तथा मुक्ति के विषय में कर्मों की महत्ता को स्वीकार करके कर्मों को बार–बार स्मरण करने की बात की गयी है।

(viii) व्यक्ति के अन्तकाल में व्यक्ति को उन्हीं भावों की अनुभूति होती है, जिनके विषय में वह हमेशा चिन्तन करता रहता है, गीता में भी कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। 8/6

(ix) मृत्यु के प्रत्येक क्षण में ब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट नाम ओ३म् का स्मरण करने तथा अपने कर्मों को स्मरण करने की बात का कथन किया गया है।

(x) शङ्कराचार्य ने भाष्य में मृत्यु सन्निकट होने पर उक्त प्रकार के स्मरण करने की बात को स्वीकार किया है।

टिप्पणी— (i) **स्मर**—√स्मृ+लोट्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

(ii) **अमृतम्**— न मृतम्, इति अथवा न म्रियते अनेन इति।

शाङ्करभाष्य— अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणः अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वा अधिदैवतात्मानं सर्वात्मकम् अनिलम् अमृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यता— मिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्, मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथ इदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भस्मावशेषं भूयात्।

ओमिति यथोपासनम् ओम् प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्मभेदेनोच्यते। हे क्रतो! सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितः, अतः स्मर। एतावन्तं कालं भावितं कृतम् अग्रे स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर । क्रतो स्मर कृतं स्मर इति पुनर्वचनमादरार्थम्।।१७।।

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते–

भाष्यानुवाद– इसके बाद इस समय मुझ मरने वाले का वायु अर्थात् प्राण अपने अध्यात्म परिच्छेद का परित्याग करके, अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप अमृत अर्थात् सूत्रात्मा को प्राप्त होवे, इसप्रकार इस वाक्य में 'प्रतिपाद्यताम्' इस क्रियापद को जोड़ लेना चाहिए। इसके अलावा यहाँ पर यह भी समझना चाहिए कि ज्ञान तथा कर्म के संस्कारों से युक्त, यह लिङ्ग अर्थात् देह उत्क्रमण करे, क्योंकि इस श्रुति के माध्यम से मार्ग की याचना की गयी है एवं अब यह शरीर अग्नि में होम कर दिए जाने पर भस्मशेष हो जाए।

'ओ३म्' इसप्रकार कहकर यहाँ उपासना के अनुसार सत्यरूप अग्नि संज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है, क्योंकि ओम् उसी का प्रतीक है। हे क्रतो! हे सङ्कल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है, उसे स्मरण कर, अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, इसलिए अब तू उसे सर्वप्रथम स्मरण कर। बाल्यावस्था से लेकर इतने समय तक मैंने जिस कर्म का पूर्व में अनुष्ठान किया है, तू उसका भी स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' इत्यादि में प्रयुक्त 'स्मर' पद की पुनरुक्ति यहाँ आदर के लिए की गयी है।।१७।।

इसके पश्चात् दूसरे मन्त्र में मार्ग की याचना करता है–

अवतरणिका– इसके पश्चात् **परमधाम में प्रस्थान करते समय अग्नि अभिमानी देव के प्रति, साधक के वचनों** को वैदिक ऋषि कहते हैं कि–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।१८।।

अन्वय– अग्ने! अस्मान् राये सुपथा नय, देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान् अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि, ते भूयिष्ठाम् नमः उक्तिम् विधेम।।१८।।

अनुवाद– हे अग्निदेवता! हमें परम ऐश्वर्यरूप परमात्मा की शरण में ले जाने के लिए, शुभ मार्ग से ले चलिए, हे देव! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं, इसलिए हमारे मार्ग के प्रतिबन्धक पापों को दूर कीजिए, हम आपको बार–बार नमस्कार वचनों का अत्यधिक कथन करते हैं।।१८।।

'चन्द्रिका'– साधक अग्निदेवता को सम्बोधित करके कहता है कि हे अग्ने! आपसे प्रार्थना है कि आप हमें परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा की शरण में ले जाने के लिए, शुभ मार्ग से ले चलिए, हे देव! आप तो हमारे सभी कर्मों को भलीप्रकार जानते हैं, इसलिए आपसे प्रार्थना है कि आप हमारे मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले, पापों को हमसे पूर्णरूप से दूर कीजिए, जिससे हम अपने आराध्य परमपिता परमात्मा की शरण में यथाशीघ्र जा सकें। आपको प्रसन्न करने के लिए हम बारंबार आपके प्रति नमस्कार वचनों का अत्यधिक कथन करते हैं।

विशेष–(i) प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद (1/189/1) तथा यजुर्वेद में तीन स्थलों (5/36, 17/43, 40/16) पर प्रयुक्त हुआ है।

(ii)यहाँ पर वैदिक ऋषि ने अग्नि अभिमानी देवता को सम्बोधित करके, अपने आराध्य परमेश्वर के पास शोभन पथ से ले जाने तथा प्रतिबन्धक पापों के विनाश करने और बार–बार नमस्कार करने की बात का उल्लेख किया है।

(iii) अग्नि को देवताओं का दूत भी माना गया है, जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवों तक पहुँचाता है।

(iv) व्यावहारिक तथ्य है कि किसी को भी प्रणाम करने से बार–बार उनकी प्रशंसा करने से व्यक्ति को प्रसन्न किया जा सकता है, इसी आधार पर यहाँ अग्नि के प्रति बार–बार नमन किया गया है।

(v) पापकर्म की उपस्थिति होने तक परमात्म दर्शन असम्भव है, उसे या तो भोगकर या फिर प्रायश्चित्त कर्म द्वारा ही दूर किया जा सकता है, किन्तु परमात्मा की कृपा को भी यहाँ पापकर्मों के क्षय का कारण बताया गया है, जिससे आत्मा विशुद्ध होकर परमात्मा में विलीन होने योग्य होती है।

(vi) 'सुपथा' पद का प्रयोग दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिए किया गया है और अग्नि अभिमानी देवता से शोभन–पथ प्रदर्शन करने की प्रार्थना की गयी है।

(vii) ईशोपनिषद् का प्रस्तुत अन्तिम मन्त्र प्रार्थनावाची है, क्योंकि विद्वन्मान्यता है कि चिन्तन का सघनरूप ही प्रार्थना में परिवर्तित हो जाता है।

(viii) प्रस्तुत मन्त्र में वैदिक 'त्रिष्टुप्' छन्द का प्रयोग हुआ है, इसके चार पादों में से प्रत्येक में ग्यारह–ग्यारह वर्ण होते हैं, इसलिए कुल मिलाकर चवालीस वर्णों का प्रयोग होता है।

टिप्पणी–(i) **नय–** √नी+लोट्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

(ii) **विधेम–** √विध् (विधाने)+विधिलिङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन।

(iii) **युयोधि–** √युज्+लोट्, म.पु.,ए.व., वै.रू.,लोक–युङ्ग्धि।

(iv) **विद्वान्–** √विद् (ज्ञाने)+शतृ–वस् आदेश विद्वस्, प्र.वि.,ए.व.।

शाङ्करभाष्य– हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेन; अतो याचे त्वां पुनः पुनः गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय, कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान् यथोक्त–धर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव! वयुनानि कर्माणि, प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन्।

भाष्यानुवाद– हे अग्ने! मुझे तू सुपथ अर्थात् सुन्दर मार्ग से लेकर चल। यहाँ 'सुपथा' विशेषण का प्रयोग दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिए किया गया है। मैं आवागमनरूप दक्षिण मार्ग से पूर्णरूप से ऊब गया हूँ, इसीलिए तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि पूर्व में कहे गए कर्म फल से विशिष्ट हम लोगों को, हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा ज्ञानों को

जानने वाले हे देव! तू 'राये' अर्थात् धन के लिए यानी कर्मफल भोग के कारण आने जाने से सर्वथा रहित शुभमार्ग पर हमें लेकर चल।

किञ्च, युयोधि वियोजय विनाशय अस्मत् अस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकम् एनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम्; भूयिष्ठां बहुतराम्। ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः।

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (ई. उ.११) **'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा असम्भूत्यामृतमश्नुते'** (ई. उ. १४) **इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः।**

तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इति, उच्यते–

भाष्यानुवाद– इसके अलावा तू हमसे कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापों को 'युयोधि' अर्थात् वियुक्त कर दे यानी उनका पूर्णरूप से नाश कर दे। उसके बाद ही हम विशुद्ध होकर अपने इष्ट को प्राप्त कर सकते हैं, इसका यही अभिप्राय है, किन्तु इस समय हम तेरी परिचर्या अर्थात् सेवा करने में समर्थ नहीं है, इसलिए हम तेरे लिए बहुत सी 'नमः' इसप्रकार की उक्ति अर्थात् नमस्कार वचनों का विधान करते हैं अर्थात् नमस्कार के माध्यम से ही तेरी परिचर्या करते हैं।

'अविद्या रूप कर्म से मृत्यु को पार करके विद्यारूपी देवताज्ञान के माध्यम से अमृत को प्राप्त करता है।' 'विनाश अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके सम्भूति यानी अव्यक्त की उपासना से अमृत लाभ करता है', ऐसा सुनकर कुछ लोगों को सन्देह हो जाता है, इसलिए उसी की निवृत्ति हेतु हम यहाँ संक्षेप में विचार कर रहे हैं।

शङ्का– भला उस विषय में किस निमित्त को लेकर संशय होता है? इसी का समाधान करते हुए कहते हैं–

विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यते, अमृतत्वं च? ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः।

सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते, विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्; यथा अविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकम्, तथा तद्विरोधा–

विरोधावपि। यथा च 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते 'अध्वरे पशुं हिंस्यात्' इति, एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्; विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः।

न; 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या (क.उ. १।२।४) **इति श्रुतेः।**

'विद्यां चाविद्यां च' इति वचनादविरोध इति चेत्?

न; हेतुस्वरूपफलविरोधात्।

विद्याविद्याविरोधाविरोधयोर्विकल्पासम्भवात् समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेत्?

न; सहसम्भवानुपपत्तेः।

भाष्यानुवाद– शङ्का– यहाँ विद्या शब्द से मुख्य परमार्थ विद्या और अमृत पद से अमृतत्व ही क्यों नहीं लिया जाता है?

समाधान– ऊपर कही गयी परमार्थ विद्या और कर्म का आपस में विरोध होने के कारण, इनका समुच्चय सम्भव नहीं है।

शङ्का– ठीक है, किन्तु इनका विरोध अथवा अविरोध तो शास्त्र प्रमाण से ही सिद्ध हो सकता है, इसलिए यहाँ शास्त्रोक्त विधि होने से इनका विरोध प्रतीत नहीं होता है, जिसप्रकार अविद्या का अनुष्ठान एवं विद्या की उपासना शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, वैसे ही उनके विरोध तथा अविरोध ये दोनों भी हैं।

जैसे– 'सभी प्राणियों की हिंसा न करे' इस बात का शास्त्र से पता चलता है और उसके बाद 'यज्ञ में पशु की हिंसा करे' उक्त बात इस शास्त्रविधि से ही बाधित हो जाती है, उसी प्रकार विद्या एवं अविद्या के विषय में भी हो सकता है। इसप्रकार विद्या और कर्म का समुच्चय हो जाएगा।

समाधान– नहीं, क्योंकि श्रुति का कहना है कि 'जिनकी गति भिन्न–भिन्न हैं, वे विद्या एवं कर्म सर्वथा विपरीत हैं।'

शङ्का– किन्तु 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि वाक्य के अनुसार इन दोनों का अविरोध तो नहीं है?'

समाधान– नहीं, क्योंकि उनके हेतु, स्वरूप और फलों में विरोध विद्यमान है।

शङ्का– विद्या एवं अविद्या तथा विरोध एवं अविरोध इनमें विकल्प हो ही नहीं सकता है तथा इनके समुच्चय का विधान किया गया है, इसीलिए इनका अविरोध ही है, यदि ऐसा माना जाए तो?

समाधान– नहीं, क्योंकि इन दोनों का साथ में रहना सम्भव ही नहीं है।

क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेत्?

न; विद्योत्पत्तौ अविद्याया ह्यस्तत्त्वात् तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः; न हि अग्निरुष्णः प्रकाशश्च इति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नम्, तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वा इत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयः अज्ञानं वा,

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'(ई. उ. ७) **इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्याऽसम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम।**

भाष्यानुवाद– शङ्का– यदि ऐसा माना जाए कि विद्या एवं अविद्या ये दोनों ही क्रम से एक आश्रय में निवास करने वाली हैं, तो?

समाधान– नहीं, क्योंकि विद्या के उत्पन्न होने पर तो अविद्या का नाश हो जाता है, इसलिए उसी आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अग्नि उष्ण तथा प्रकाशरूप है, इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर जिस अग्निरूप आश्रय में यह उत्पन्न हुआ है, उसी में अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है, ऐसे अज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

अधिक क्या कहें, इस विषय में तो उस व्यक्ति को सन्देह या भ्रम भी नहीं हो सकता है। ज्ञानी के लिए शोक, मोहादि को असम्भव बताने वाली 'यस्मिन् सर्वाणि' इत्यादि श्रुति से भी इसी बात की सिद्धि होती है। इसप्रकार अविद्या के असम्भव होने पर उसके आश्रय से होने वाले कर्म भी नहीं हो सकते हैं, यह बात हम पूर्व में ही कह चुके हैं।

'अमृतमश्नुते' इत्यापेक्षिकममृतम्; विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे 'हिरण्मयेन' (ई. उ. १५) **इत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्।**

तस्मात् उपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते।।१८।।

भाष्यानुवाद– इसके अतिरिक्त यहाँ जो कहा गया है कि वह अमृत को प्राप्त होता है, उसे वस्तुतः सापेक्षिक अमृत समझना चाहिए। यदि 'विद्या' पद से परमात्मा विद्या का ग्रहण किया जाए, तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रों से मार्ग आदि की याचना सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ उपासना के साथ ही कर्म का समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञान के साथ नहीं। अतः इन मन्त्रों का वही अर्थ है जो वस्तुतः हमने कहा है, इसप्रकार कहकर ही हम विराम लेते हैं।।१८।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्
पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीतं
ईशावास्योपनिषद्भाष्यं समाप्तः।।

।। इसप्रकार श्रीमन्परमहंसपरिव्राजकाचार्य गोविन्द के पूज्यपाद शिष्य श्रीमन् शङ्कर भगवान् द्वारा किए गए ईशावास्योपनिषद् का भाष्य पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार **डॉ. राकेश शास्त्री** बाँसवाड़ा निवासी द्वारा किया हुआ, ईशावास्योपनिषद् का हिन्दी अनुवाद तथा 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।।

•••

परिशिष्ट–1

उवट महीधर भाष्य

चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।1।।

(1) **उवट भाष्य–** समाप्तं कर्मकाण्डमिदानीं ज्ञानकाण्डं प्रस्तूयते। ईशावास्यम्। तिस्रोऽनुष्टुभः दध्यङ्ङाथर्वणऋषिः स्वशिष्यं पुत्रं वा गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतशरीरमधीतवेदमुत्पादितपुत्रं यथाशक्ति अनुष्ठितयज्ञमपापं निस्पृहं यमनियमवन्तमतिथिपूजापनीतकिल्बिषं मुमुक्षु–मुपसन्नं शिक्षयन्नाह। ईशा वास्यम्। इदं सर्वम् ईशा 'ईश ऐश्वर्ये,' तृतीयान्तस्यैतद्रूपम्। यदीशनेन। वास्यं वसनीयम् ममेदमित्यनया भावनया आच्छादनीयम्। इदं सर्वमिति प्रत्यक्षतो निर्दिश्यत इति। यत्किञ्च यत्किञ्च शब्दो भिन्नक्रमः।

किञ्च। यत् जगत्यां पृथिव्यां जगत् जङ्गमादि स्वस्वामि–सम्बन्धाभिलक्षितं स्यात्। तेनानेन सर्वेण। त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामि–सम्बन्धेन। भोगान् भुञ्जीथाः अनुभावयस्व। मा गृधः। 'गृधु अभिकांक्षायाम्' माभिकाङ्क्षीः ममेदमिति धियं त्यज। कस्यस्विद्धनम्। स्विन्निपातो वितर्कवचनः। कस्य पुनरेतद्धनं न कस्यचिदपीत्यभिप्रायः। सर्वाण्य–यथार्थानि हि द्रव्याण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा। स्त्रियमिति अन्यथा भुङ्क्ते अन्यथा पुत्र अन्यथा प्राघूर्णकः। तथा कटककेयूरादीन्यलङ्करणानि अन्यं चान्यं च पुरुषमुपतिष्ठमानानि दृश्यन्ते। अतः सर्वार्थस्य यस्य स्वस्वामि–सम्बन्धः सा त्व– विद्या। निःस्पृहस्य योगेऽधिकार इति वाक्यार्थः।।1।।

महीधर भाष्य– एकोनचत्वारिंशताध्यायैः कर्मकाण्डं निरूपितम्। इदानीं कर्माचरणशुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानकाण्डमेकेनाध्यायेन निरूप्यते। ईशावास्यमित्यादिमन्त्राणां कर्मसु विनियोगो नास्ति तेषां। शुद्धत्वैक–त्वापापविद्धत्वाशरीरत्वासर्वगतत्वाद्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादनात्। तच्च कर्मणा

विरुध्यते। नहीदृगात्मोत्पाद्यो विकार्य आप्यः संस्कार्यः कर्ता भोक्ता वा भवेद्येन कर्मशेषता स्यात्। तस्मादविद्याकृतमात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाशुद्धत्व पापविद्धत्वाद्यङ्गीकृत्य लोकबुद्धिसिद्धानि कर्माणि विहितानि।

यो हि दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिना अदृष्टेन स्वर्गादिना कर्मफलेनार्थी सन्नहं द्विजातिः कर्माधिकारवानित्यात्मानं मन्यते तस्य कर्माधिकारः। तस्मादेते मन्त्रा आत्मयाथात्म्यप्रकाशनेन शोकमोहादिसाधनमज्ञानं विनिवर्त्यात्मज्ञानं जनयन्तीत्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनानि। इदानीं ते मन्त्रा व्याख्यायन्ते। ईशा वास्यम्। आत्मदेवत्य अनुष्टुप्छन्दस्कोऽध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः। गर्भाधानादिसंस्कार संस्कृतमधीतवेदं जनितसुतं यथाशक्तिकृतयज्ञं निष्पापं निःस्पृहं यमनियमोपेतं मुमुक्षुमुपसन्नं शिष्यं पुत्रं वा ऋषिरुपदिशन्नाहा। 'ईश ऐश्वर्ये' क्विप् ईष्ट इतीट् ईशिता परमेश्वरः।

स हि सर्वजन्तूनामात्मा सन् सर्वमीष्टे। तेन स्वेनात्मनेशा इदं प्रत्यक्षतो दृश्मानं सर्वं वास्यम् 'वस् आच्छादने' 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० ३।१।१२४) इति ण्यत्प्रत्ययः। आच्छादनीयं परमात्माहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणात्मना सर्वमिदमनृतमाच्छादनीयम्। परमात्माहमेवास्मि नान्यदस्तीति चिन्तयेदित्यर्थः। यत् किंचेति भिन्नक्रमः। किंच यत् जगत्यां लोकत्रये जगत् जङ्गमादिकं स्वामिसम्बन्धालिङ्गितं भवेत्, तेन सर्वेण त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धेन भुञ्जीथाः भोगमनुभवेः।

मा गृधः 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' आकाङ्क्षा मा कृथाः। ममेदमिति धियं त्यजेत्यर्थः। किमिति। स्विदिति निपातौ वितर्के। धनं कस्य स्वित्। न कस्यापीत्यर्थः। सर्वाणि द्रव्याण्यन्योन्यमुपगच्छन्ति दृश्यन्ते, अतो ममेदमिति बुद्धिरविद्या तां त्यजतो योगेऽधिकार इत्यर्थः।।1।।

(2) **उवट भाष्य–** निःस्पृहस्यापि योगिनो ज्ञाननिमित्ते कर्मण्यधिकार इत्येतमर्थमाह। कुर्वन्नेव। कुर्वन्नेव कर्माणि मुक्तिहेतुकानि। इह लोके जिजीविषेत्। जिजीविषेरिति पुरुषव्यत्ययः। प्रत्यक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य। जीवितुमिच्छेः पथ्यहितमितभक्षेणेन। शतं समाः इत्युपलक्षणार्थम्। यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः। एवम् त्वयि तवेति विभक्तिव्यत्ययः। मुक्तिरस्तीति शेषः। नान्यथेतोऽस्ति इतः प्रकारात् अन्यथा मुक्तिर्नास्ति। **एतदुक्तं भवति। यथा स्वर्गप्राप्तौ नानाभूताः प्रकाराः सन्ति, न तथा**

मुक्तावित्यर्थः। ननु कर्मणः फलेन भवितव्यमथ कथं मुक्तिप्राप्तिरित्येतदाशङ्क्याह।

न कर्म लिप्यते नरे। नहि मुक्तयर्थं क्रियमाणं कर्म नरे मनुष्ये संबध्यते। मुक्तिप्रदानेनोपक्षीणशक्तित्वात्। तथाच बृहदारण्यकम् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति। विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति। अनेनैतदर्शयति यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत् कर्मस्वधिकार इति।।2।।

महीधर भाष्य– आत्मज्ञानाशक्तस्य कर्मोपदेशमाह। कर्माणि अग्निहोत्रादीनि निष्कामानि मुक्तिहेतुकानि कुर्वन्नेवेह लोके शतं समाः शतवर्षपर्यन्तं जिजीविषेत्। पुरुषव्यत्ययः। त्वं जिजीविषेः जीवितुमिच्छेः। पुरुषायुषः शतवर्षत्वाच्छतग्रहणम्। त्वयीति विभक्तिव्यत्ययः। तवैवं कर्म कुर्वतो जिजीविषतो मुक्तिरस्तीति शेषः। इतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरेण मुक्तिर्नास्तिः। असमर्थः। स्वर्गादिप्राप्तौ यथा नानाप्रकाराः सन्ति न तथा मुक्तावित्यर्थः।

निष्कामकर्मानुष्ठानेन शुद्धान्तःकरणस्यैव मुक्तिरित्यर्थः ननु कर्मणः फलेन भाव्यम् कथं मुक्तिरित्यत आह न कर्मेति । मुक्त्यर्थं क्रियमाणं कर्म नरे मनुष्ये न लिप्यते न संबध्यते । मुक्तिकारणान्तःकरणशुद्ध्यापादकत्वेनोपक्षीणशक्तित्वात् यावदिच्छा तावत्कर्मस्वधिकार इति दर्शितम्। उत्तरार्धस्यार्थान्तरं वा। एवंप्रकारे त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनि इतः एतस्मात् कर्मकरर्णादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति, येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते। अतः शास्त्रविहितं कर्म कुर्वन्नेव जीवितुमिच्छेत् प्रत्यवायपरिहारायेत्यर्थः। तदुक्तम् 'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तो च विभाषितः' ।। 2 ।।

(3) **उवट भाष्य–**इदानीं स्वर्गादिप्राप्तिहेतुभूतानि कर्माणि ये कुर्वन्ति ते निन्द्यन्ते। असुर्या नामेति। असुर्याः। परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवा अप्यसुराः। असुराणां स्वभूता असुर्याः एवं संज्ञकास्ते लोकाः, अन्धेन तमसा अज्ञानलक्षणेन तमसा आवृताः सर्वतोवृताः। तान् लोकान् ते जनाः प्रेत्य मृत्वा अपि गच्छन्ति। ये केचात्महनो जनाः आत्मानं घ्नन्ति, ये जनाः ते **आत्महनः। आत्मानं च ते घ्नन्ति ये स्वर्गप्राप्तिहेतूनि कर्माणि**

कुर्वन्ति। ते हि जनित्वा म्रियन्ते मृत्वा च जायन्ते। एवमहर्निशं नाशं प्राप्नुवन्ति।।3।।

महीधर भाष्य– अथ काम्यकर्मपरान्निन्दति। ये के च ये केचित् जनाः नराः आत्महनः आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः अविद्वांसः काम्यकर्मपराः विद्यमानस्याजरामरस्यात्मनोऽविद्यादोषेण तिरस्करणादात्महन्तारः। ते प्रेत्य मृत्वा देहं त्यक्त्वा तान् लोकान् जन्मानि स्थावरान्तानि अपिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। तान् कान् नाम प्रसिद्धम्। ते ये यत्तदोर्व्यत्ययः। ये लोकाः लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलानि यत्रेति लोका जन्मानि। असुर्याः असुराणामिमे असुर्या, असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः। अद्वैतम–पेक्ष्य देवा अपि असुराः। कीदृशा लोकाः। अन्धेन तमसा अदर्शनात्म–केनाज्ञानेन आवृताः आच्छादिताः। अनात्मज्ञाः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः।।3।।

(4) **उवट भाष्य–** इदानीमधस्तनयमनियमवतां मुमुक्षूणां यथाभूतं परब्रह्म आत्मत्वेनोपास्यं तदाह । उक्तञ्च 'अहं ब्रह्मास्मि संरुध्य इदं सर्वं च मन्मयम् । इयं विद्या समुदिष्टा विमुक्तिर्यन्निबन्धनी' इति। अनेज–देकम्। त्रिष्टुप्। यत् अनेजत् अचलत् तत्त्वमस्ति एकमद्वितीयं विज्ञान–घनरूपेण। मनसोजवीयः। मनस्तावच्छीघ्रं भवति ततोऽपि शीघ्रतरं प्रसवदानेन कारणभूतत्वात्। नैनद्देवा आप्नुवन् न चैतत्तत्त्वं देवा अपि प्राप्तुं शक्ताः। सूक्ष्मत्वात् पूर्वम् अर्शत्। रिशतिहिंसाकर्मा अविनश्यदास्ते। अनादिनिधनमित्यर्थः।

तद्धावतः तदः स्थाने यदो वृत्तिरुद्देश्यत्वात्। यच्च धावतः अन्यान् पुरुषादीनत्येति अतिक्रम्य गच्छति। तथाच तिष्ठत् सर्वत्र स्थितम्। सर्वशक्तित्वं सर्वगतत्वं चानेन व्याख्यायते। तस्मिन्नपः। अत्रापि यदोवृत्तिः अस्मिंश्चापः कर्माणि मातरिश्वा वायुः दधाति स्थापयति। सर्वाणि कर्माणि यज्ञदानहोमादीनि समिष्टयजूंषि वायौ स्थाप्यन्ते स्वाहा वातेधा इति वायोः प्रतिष्ठत्वाभिधानात्। समष्टिव्यष्टिरूपो ह्यसाविति वायुरपि यस्मिन्कर्माणि स्थापयति। यागहोमादीनां परमं निधानमित्यर्थः।।4।।

महीधर भाष्य–मुमुक्षुभिर्यादृशं ब्रह्मात्मत्वेनोपास्यं यस्याज्ञानात् संसारस्तदात्मस्वरूपमाह। त्रिष्टुप्छन्दस्केयमृक्। यत् ब्रह्म अनेजत् 'एजृ

कम्पने' न एजतीत्यनेजत् अचलत् स्वावस्थाप्रच्युतिः कम्पनं तद्रहितम्। सदैकरूपमित्यर्थः। एकमद्वितीयं सर्वभूतेषु विज्ञानघनरूपेण। मनसः सङ्कल्पादिलक्षणाज्जवीयः वेगवत्तरम् जवोऽस्यास्तीति जववत् अत्यन्तं जववत् जवीयः। ईयसुनि कृते 'विन्मतोर्लुक्' (पा० ५।३।६५) इति मतुपो लुक्। नन्वनेजद्वेगवतोर्विरोधः।

मैवम्, निरुपाधित्वेनानेजत् सङ्कल्पविकल्परूपान्तःकरणस्योपाधेर–नुवर्तनाज्जविष्ठम्। देहस्थस्य मनसो दूरस्थब्रह्मलोकादिसङ्कल्पनं क्षण–मात्राद्भवतीति मनो वेगवत्तरं लोके प्रसिद्धम्। मनसि दूरं गच्छत्या–त्मचैतन्यावभासः प्रथमप्राप्त इव गृह्यते अतो मनसो जवीय इत्युक्तम्। देवा द्योतनात्मकाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि एनत् प्रकृतमात्मतत्त्वं नाप्नुवन् न प्राप्तवन्तः। चक्षुरादिभ्यो मनो जवीयः। अतो मनोव्यापारे व्यवहितत्वा–दात्मन आभासमात्रमपि देवानां गोचरो न भवतीत्यर्थः।

यतः पूर्वमर्शत् वेगवम्मनसोऽपि प्रथममेव गच्छत् । 'ऋश गतौ' व्योमवद्व्यापित्वात् सर्वसंसारधर्मवर्जितं तदात्मतत्त्वं निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवती वेत्यविवेकिनां प्रतिदेहमनेकमिव प्रतिभासत इति भावः। यद्वा पूर्वं पूर्वमपि विद्यमानम्। अर्शत् 'रिश हिंसायां' रिशति नश्यति रिशत् न रिशदरिशत् अर्शत् । धातोरिकारलोपश्छान्दसः। किंच तत्। तदः स्थाने यदो वृत्तिः। यदात्मतत्त्वं धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यान् मनोवागिन्द्रियादी– नात्मवि–लक्षणान् अत्येति अतीत्य गच्छतीव।

कीदृशम्? तिष्ठत् स्वयमविक्रियमेव सद्गच्छतीव। मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः तस्मिन्नित्यचैतन्यस्वभावे आत्मतत्त्वे सति अपः कर्माणि दधाति धारयति कार्यकारणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि यः सूत्रसंज्ञाः सर्वस्य जगतो विधारयिता सर्वप्राणभृत्क्रियात्मकः सोऽपि वायुः प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्निरविमेघादीनां ज्वलनदहन प्रकाशाभिवर्षणादीनि च कर्माणि, यस्मिन् ब्रह्मणि सत्ये व दधाति विभजति धारयति वा। 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै० आर० ८।८) इत्यादिश्रुतेः।

सर्वा हि कार्यकारणादिक्रियाः सर्वास्पदे नित्यचैतन्यरूपे ब्रह्मणि सत्येव भवन्तीत्यर्थः। यद्वा मातरिश्वा वायुरपः कर्माणि आप्यन्ते प्राप्यन्ते, सुखदुःखानि याभिस्ता आपः कर्माणि 'आप्नोतेर्हस्व' (उणा० २।५१) इति क्विप् धातोर्हस्वश्च। तानि कर्माणि यज्ञहोमादीनि यस्मिन् दधाति स्थापयति 'स्वाहा वाते धाः' (८।२१) इति समिष्टयजुषि वायुस्थत्वोक्तेः कर्माणि तावद्वायौ स्थाप्यन्ते समष्टिरूपोऽसौ वायुरपि यस्मिन्कर्माणि स्थापयति। यागहोमदानादिकर्मणां परमं निधानमित्यर्थः।।4।।

(5) **उवट भाष्य–**एवं कारणरूपमात्मानमुद्दिश्य अथेदानीं कार्यरूपे–णोद्दिशति। तदेजति अनुष्टुभस्तिस्रः। तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत् एजति, कम्पवद्भवति क्रियावद्भवति। तन्नैजति तदेव च न चलति स्थावर–रूपावस्थितं सत्। तद्दूरे तदेव च दूरे आदित्यनक्षत्रादिरूपेणावस्थितम्। तत् उ अन्तिके। उः समुच्चये। तदेव च अन्तिके पृथिव्यादिरूपेणा–वस्थितम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' त्येतद्दर्शनार्थो ग्रन्थः। तदन्तरस्य सर्वस्य। तदेव च अस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य विज्ञानघनरूपेणावस्थितं सत् अन्तर्मध्यत आस्ते। तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। तदेव च सर्वस्यास्य प्राणिजातस्य बाह्यतः जनरूपेणावस्थितमास्ते। चेतनाचेतनरूपमनन्तं सर्वगं ब्रह्मेत्यर्थः। अस्या उपासनाया अर्चिराद्यनुचिन्तनं नास्तीत्येवं केचिदाहुः इहैव ब्रह्मप्राप्तेः।।5।।

महीधर भाष्य– रहस्यं सकृदुक्तं चित्ते नायातीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनर्वदति। तत् प्रकृतमात्मतत्त्वमेजति चलति। तदेव च न एजति स्वतो नैव चलति। अचलमेव सत् मूढदृष्ट्या चलतीवेत्यर्थः। किंच तत् दूरे अविदुषामब्दकोट्यायाप्यप्राप्यत्वाद् दूरे इवेत्यर्थः। तत् उ तदेव अन्तिके समीपे। विदुषामात्मत्वेन भासमानत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च।

अस्य सर्वस्य नामरूप क्रियात्मकजगतोऽन्तरभ्यन्तरे तदेव। अस्य सर्वस्य बाह्यतः बहिरपि तदु तदेत ब्रह्म नभोवद्व्याप्तार्थापकत्वात्। अस्य मन्त्रस्यार्थान्तरम्। यथा पूर्वमन्त्रेण कारणरूपमात्मानमुद्दिश्य कार्यरूप–मुद्दिशति– तदेजति। तिस्रोऽनुष्टुभः। तत् आत्मतत्त्वमेजति सर्वजन्तुरूपेण स्थितं सत् कम्पते क्रियावद्भवति। तदेव च न एजति स्थावररूपावस्थं न चलति। तदेव दूरे आदित्यनक्षत्रादिरूपेण स्थितत्वात्। तदु अन्तिके

समीपे धरादिरूपत्वात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य प्राणिजातस्यान्तर्मध्ये तदेवास्ते विज्ञानघनरूपेण। अस्य सर्वस्य बहिः तदु तदेव जडरूपत्वात्। चेतनाचेतनरूपमनन्तं ब्रह्मेत्यर्थः। एतदुपासितु–रर्चिरादिमार्गेण गमनं नास्ति इहैव ब्रह्मप्राप्तेः। 'न तस्य प्राणा उत्क्राम–न्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सनब्रह्माप्येति' इति श्रुतेः।।5।।

(6) **उवट भाष्य–** यस्तु। तु शब्दो विशेषणार्थः यः पुनः सर्वाणि भूतानि चेतनाचेतनानि आत्मन्नेव अनुपश्यति। मय्येव सर्वाणि भूतान्यवस्थितानि न मद्व्यतिरिक्तानि। अहमेव परं ब्रह्मेति। सर्वभूतेषु चात्मानं अवस्थितं तद्व्यतिरिक्तं पश्यति। ततो न विचिकित्सति न संशेते। एवं पश्यतो योगिनः परब्रह्मरूपाण्यात्मसंस्थानि भवन्ति विज्ञान–घनानन्दैकत्वादिति अतो विचारान्न विनिवर्तते।।6।।

महीधर भाष्य– अथोपासनप्रकारमाह। यस्तु यः पुनः मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि चेतनानि आत्मन्। सप्तम्या लुक्। आत्मनि एवानुपश्यति मय्येव सर्वभूतानि स्थितानि न मद्व्यतिरिक्तानीति पश्यति। आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु चात्मानमवस्थित–मव्यतिरिक्तं पश्यति तेषां भूतानां स्व आत्मानमात्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः। अयमर्थः। अस्य कार्यकारणसंघातस्यात्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता निर्गुणश्च तथा तेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वेषु चात्मानं निर्विशेषं पश्यति। ततस्तस्माद्दर्शनान्न विचिकित्सति न संशेते 'कित रोगापनयने संशये च' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (पा० ३।१।५) इति स्वार्थे सन्प्रत्ययः। आत्मनोऽन्यत्पश्यतः सर्वः संदेहो भवत्यात्मानमेवात्यन्तं शुद्धं निरन्तरं पश्यतो न संदेहावकाश इति भावः। अत आत्मज्ञस्य विचारनिवृत्तिः।।6।।

(7) **उवट भाष्य–** किञ्च। यस्मिन् अवस्थाविशेषे। सर्वाणि भूतानि चेतनाचेतनानि। आत्मैव अभूत् सम्भवन्ति। विजानतः 'आत्मैवेदं सर्वं।' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' त्येवमादिवाक्यविचारेण विधृतविज्ञानस्य। तत्र अवस्थाविशेषे कृतचेतसो योगिनः कः मोहः कश्च शोकः न कश्चिद–पीत्यभिप्रायः। शोकमोहौ ह्यपरिज्ञाततत्त्वस्य भवतः। हेतुगर्भं विशेषणमाह। एकत्वमनुपश्यतः सर्वाणि भूतानि ध्यायतः।।7।।

महीधर भाष्य– इममेवार्थमन्यो मन्त्रो वदति। यस्मिन्नवस्थाविशेषे विजानतः 'आत्मैवेदम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' त्यादिवाक्यविचारेणा– वधृतपरमार्थस्य सतः सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् परमार्थदर्शनादात्मैव संवृत्तः। तत्र तस्यामवस्थायामेकत्वं विशुद्धं गगनोपममात्मैकत्वं पश्यतः जानतः को मोहः कः शोकश्च। अविद्याकार्ययोः शोकमोहयोरसम्भवात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमुच्छेद इति भाव।।7।।

(8) **उवट भाष्य–** स पर्यगात्। जगती। य एवमात्मानमुपास्ते स पर्यगात्परिगच्छति शुक्रं शुक्लं विज्ञानानन्दस्वभावमचिन्त्यशक्तिम्। अकायं न विद्यते कायः शरीरं यस्य स तथोक्तः। अव्रणं कायरहितत्वादेव। अस्नाविरं स्नायुरहितमकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्वरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरसंस्पृष्टम्। अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्य– भ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः। इत्थंभूतं ब्रह्म प्रतिपद्यते। अथात्मो– पासनायुक्तस्य फलमाह।

यश्च कविः क्रान्तदर्शनः मनीषी मेधावी परिभूः सर्वतो भविता विज्ञानबलात्स्वयंभूः स्वयं ज्ञानबलाद्ब्रह्मरूपेण भविता सः याथातथ्यतो– ऽर्थानवयदधाद्यथास्वरूपमर्थान्विहितवान् त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धैरथैश्चेतना– चेतनैरूपभोगं कृतवान्। शाश्वतीभ्योऽनन्ताभ्यः समाभ्योऽर्थाय अनन्त– वर्षप्राप्तये च कर्म कृतवान्। ननु कर्मजाड्याल्लोकः कर्मवान्भवति। सत्यम्। आत्मसंस्कारकं तु कर्म ब्रह्मभावजनकं स्यात्। तस्मात्सोपि गच्छति शुक्रमकायं ब्रह्म इति।।8।।

महीधर भाष्य– एवंभूतात्मज्ञस्य फलमाह। य एवमात्मानं पश्यति स ईदृशं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। कीदृशम्? शुक्रं शुद्धं विज्ञानानन्दस्वभावमचिन्त्यशक्ति। अकायं न कायः शरीरं यस्य तत्। अकायत्वादेवाव्रणमक्षतम्। अस्नाविरं न विद्यन्ते स्नावाः शिरा यत्र तदस्नाविरं स्नायुरहितम्। अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्त्वरजस्तमोभिः। अपापविद्धं न पापैर्विद्धं स्नायुरहितम्। अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्त्वरजस्तमोभिः। अपापविद्धं न पापैर्विद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरस्पृष्टम्। अकायमव्रणमस्नाविरमिति, पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय। 'अभ्यासे भूयांस– मर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः, ईदृशं ब्रह्मात्मज्ञः प्रतिपद्यत

इत्यर्थः। पुनस्तस्यैव फलान्तरमाह। य ईदृश उपासकः स शाश्वतीभ्यः समाभ्यः निरन्तरमनन्तवर्षेभ्योऽर्थाय अनन्त वर्षप्राप्तरे प्राथातथ्यतः यथा– तथाभावो याथातथ्यं तेन यथास्वरूपमर्थान् व्यदधाद्विहितवान्। त्यक्तस्व– स्वामिसम्बन्धैश्चेतना चेतनैरर्थैरुपभोगं कृतवानित्यर्थः।

कीदृशः? कविः क्रान्तदर्शी। मनीषी मेधावी। परि सर्वतो भवतीति परिभूः ज्ञानबलात्सर्वरूपः। स्वयं भवतीति स्वयंभूः ब्रह्मरूपेण भविता। ईदृशोऽपि पूर्वोक्तं शुक्रमकायमित्यादिविशेषणविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः। एतस्या ऋचोऽर्थान्तरं यथा। योऽयमतीतमन्त्रोक्त आत्मा स पर्यगात् परितः सर्वत्र गच्छति नभोवत्सर्वं व्याप्नोति। व्याप्य च शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यो याथातथ्यतः यथाभूत– कर्मफलसाधनतः अर्थान्कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधात्।

यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। स कीदृशः। शुक्रमित्यादिविशेषणानि लिङ्गव्यत्ययेन पुल्लिङ्गे नेतव्यानि। शुक्रः शुद्धो दीप्तिमान्। अकायो– ऽशरीरः। लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽक्षतः अस्नाविरः शिराहितः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धो निर्मलः। अपापविद्धोऽधर्मादिवर्जितः। कविः सर्वदृक् 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इति श्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञः। परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयंभू भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स स्वयमेव भवीति स्वयंभूः। स नित्य ईश्वर सर्वं कृतवानित्यर्थः।।8।।

(9) **उवट भाष्य–** इत उत्तरमुपासनामन्त्राः प्रोच्यन्ते। अन्धं तमः षडनुष्टुभः। लोकायतिकाः प्रस्तूय निन्दन्ते। येषामेतद्दर्शनम्। जलबुद्बुद– वज्जीवाः। मदशक्तिवद्विज्ञानमिति। अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमु– पासते। मृतस्य सतः पुनः सम्भवो नास्ति। अतः शरीरग्रहणादस्माकं मुक्तिरेव। नहि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्मास्ति यो **यमनियमैः** संबध्यते। एवं ये उपासते ते अन्धं अज्ञानलक्षणं तमः **प्रविशन्ति ततो भूय** इव ते तमः। ततोपि बहुतरम् । इवोऽनर्थकः। ते तमः **प्रविशन्ति ये उ।** उकारः कर्मपराङ्मुखाय तत्कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोरसम्भव **इत्ययमभिप्रेत्य** स्वबुद्धिमुद्भूतां विभावयन्तः आत्मज्ञान एव रताः।।9।।

महीधर भाष्य– अतः परमुपासनामन्त्रा उच्यन्ते षडनुष्टुभः। यम-नियमसम्बन्धवान्विज्ञानात्मा कश्चिन्नस्ति जलबुद्बुदवज्जीवाः मदशक्तिव-द्विज्ञानमित्यादिमतवादिनो बौद्धः प्रस्तूय निन्द्यन्ते। ये नराः असंभूतिम-सम्भवमुपासते मृतस्य पुनः सम्भवो नास्ति, अतः शरीरान्तेऽस्माकं मुक्तिरेवेदि वदन्ति ते अन्धं तमोऽज्ञानलक्षणं प्रविशन्ति। ये उ ये च संभूत्यामेव रताः सम्भवत्यस्या इति संभूतिरात्मा तत्रैवासक्ताः कर्मपराङ्मुखाः स्वबुद्धिलाघवमजानाना आत्मज्ञानमात्ररताः आत्मैवास्ति नान्यत् कर्मादीनि कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोः सम्बन्धो नास्तीत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः। ते नराः ततोऽन्धात्तमसो भूय इव । इव शब्दोऽनर्थकः।

बहुतरं तमोऽज्ञानं विशन्ति। अस्या ऋचोऽर्थान्तरमुच्यते। अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते। सम्भवनं संभूतिः कार्यस्योत्पत्तिः तस्या अन्या असंभूतिः प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्यं तामसं भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्याकामकर्मबीजभूतामदर्शना-त्मिकां ये उपासते ते तदुनरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं संसारं प्रविशन्ति। ये संभूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ते ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति।।9।।

(10) **उवट भाष्य–**अन्यदेव। अन्यदेव फलं आहुः सम्भवात् सम्भव–परिज्ञानात्। अन्यञ्च आहुः फलम् सम्भवपरिज्ञानात्। इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयम् धीराणां वचांसि। ये धीराः नः अस्माकम्। तत् ब्रह्म विचचक्षिरे आख्यातवन्तः।।10।।

महीधर भाष्य– अथोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवबलभेद-माह। सम्भवात्संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनात् अन्यदेव पृथगेवाणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं फलमाहुः कथयन्ति धीराः। तथा असम्भवात् असंभूतेरव्याकृतादव्याकृतो-पासनादन्यदेव बलमुक्तम्। अन्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तं प्रकृतिलय इति पौराणिकोक्तं फलमाहुः इत्येवंविधं धीराणां विदुषां वचः शुश्रुम वयं श्रुतवन्तः। ये धीराः नोऽस्माकं तत् पूर्वोक्तं संभूत्यसंभूत्युपासनाफलं विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः।।10।।

(11) **उवट भाष्य–** संभूति च समस्तस्य जगतः सम्भवैकहेतुं च परं ब्रह्म। विनाशं च विनाशिशरीरं च। यः योगी तदुभयं वेद जानाति। सह

एकीभूतम्। शरीरग्रहणेन ज्ञानोत्पत्तिहेतूनि कर्माणि करोति। सः विनाशेन। विनाशिना शरीरेण। मृत्युं तीर्त्वा उत्तीर्य। संभूत्या आत्मविज्ञानेन। अमृतमश्नुते। अमृतत्वमश्नातीत्यर्थः।।11।।

महीधर भाष्य– संभूति सर्वजगत्सम्भवैकहेतुं परं ब्रह्म। विनाशं विनाशोऽस्यास्तीति विनाशः अर्शआदित्वादच्प्रत्ययः। विनाशधर्मकं शरीरम्। तदुभयं शरीरिशरीररूपं द्वयं यो योगी सह एकीभूतं वेद जानाति। देहभिन्नेऽहं देहीवासे कर्मवशादिति ज्ञात्वा शरीरेण ज्ञानोत्पत्तिकराणि निष्कामकर्माणि करोतीत्यर्थः। स विनाशेन विनाशिना शरीरेण मृत्युं तीर्त्वान्तःकरणशुद्धिं संपाद्य संभृत्यात्मज्ञानेनामृतमश्नुते मुक्ति प्राप्नोति। अस्या ऋचोऽर्थान्तरम्। यथा।

संभूत्युपासनयोरेकपुरुषार्थत्वात्समुच्चय एव युक्त इत्याह। अत्र विनाशशब्दद्वये अवर्णलोपो द्रष्टव्यः पृषोदरादित्वात्। अन्यदाहु–रसम्भवादित्युक्तेः। संभूतिमविनाशं च व्याकृताव्याकृतोपासनद्वयं यः सह वेद। उभयमुपास्त इत्यर्थः। स योगी अविनाशेनाव्याकृतोपासनेन मृत्युम–नैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च तीत्वांतिक्रम्य संभूत्या हिरण्यगर्भोपासने–नामृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते।।11।।

(12) **उवट भाष्य**– अन्धं तमः अज्ञानलक्षणं तमः प्रविशन्ति। ये अविद्यां स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि उपासतेऽतिष्ठन्ति । ततो भूय इव ते तमः। ततोपि वहुतरम्। इवोऽनर्थकः। ते तमः प्रविशन्ति। ये उ ये पुनः। विद्यायामेव रताः। आत्मज्ञान एवाकृतकर्माणो रता नराः।।12।।

महीधर भाष्य–ये तु कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषन्ति तान्प्रत्युच्यते। विद्याविद्ययोः समुच्चिचीपया प्रत्येकं निन्दोच्यते। विद्याया अन्या अविद्या कर्म। ये जना अविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणां केवलामुपासते स्वर्गार्थानि कर्माणि केवलमनुतिष्ठन्ति ते अन्धमदर्शनात्मकं तमोऽज्ञानं प्रविशन्ति। सांसार परम्परामनुभवन्तीत्यर्थः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव तमः ते प्रविशन्ति। ये उ ये पुनर्विद्यायामात्मज्ञाने देवताज्ञाने एव रताः कर्मणि हित्वा कर्माकरणे प्रत्यवायोत्पत्त्यान्तः कारणशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुदयादिति भावः।।12।।

(13) **उवट भाष्य–** अन्यदेव। अन्यदेव फलमाहुः विद्यायाः आत्मा-नादन्यच्च आहुः अविद्यायाः। कर्मण इति शुश्रुमेत्यादि व्याख्यातम्।।13।।

महीधर भाष्य– तयोः फलभेदमाह। विद्याया आत्मज्ञानस्य फलम-न्यदेवाहुरमृतरूपम्। अविद्यायाः कर्मणश्च फलं पितृलोकरूपमन्यदेवाहुः। धीराः। 'कर्मण पितृलोको विद्यया देवलोक' इति श्रुतेः। ये धीराः धीमन्तः आचार्या नोऽस्मभ्यं ज्ञानं कर्म च विचचक्षिरे व्याचख्युः। तदुक्तमित्येवं धीराणां वचः शुश्रुम श्रुतवन्तः।।13।।

(14) **उवट भाष्य–** विद्यां च आत्मज्ञानं च अविद्यां कर्म च यस्तदुभयं वेद जानाति सह एकीभूतं कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतम् अथ कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डं च एकीकृत्य अविद्यया कर्मकाण्डेन मृत्युं तीर्त्वोत्तीर्य कृतकृत्यो भूत्वा विद्यया ब्रह्मपरिज्ञानेनामृतत्वं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति।।14।।

महीधर भाष्य– समुच्चयमाह। विद्यां देवताज्ञानं अविद्यां कर्म च तदुभयं विद्यारूपं द्वयं यः सह वेद एकीकृत्य वेद एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं जानाति। कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतमित्यर्थः। सोऽविद्ययाग्नि-होत्रादिकर्मणा मृत्युं स्वाभाविककर्मज्ञानं मृत्युशव्दवाच्यं तीर्त्वोत्तार्यान्तः शुद्ध्या कृतकृत्यो भूत्वा विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति 'तद्धि अमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्' इति श्रुतेः।।14।।

(15) **उवट भाष्य–** इदानीमित्थं कृतब्रह्मोपासनस्य योगिनः शरीर-पातोत्तरकाले यद्भवति तदाह। वायुरनिलम्। वायुग्रहणमिन्द्रियाण्येकादश महाभूतानि पश्च जीवात्मैकः एवं सप्तदशकलिङ्गोपलक्षणार्थम्। वायु प्राणोऽनिलं स्वकीयां प्रकृतिमापद्यते अमृतं परंब्रह्म तद्धि तद्विज्ञाय संपद्यते। अथेदं स्थूलशरीरं कीदृशं तदा भवति। भस्मान्तं भस्मैव भवति कृतप्रयोजनकत्वात् । इदानीं योगिनः आलम्बनभूतमक्षरं कथ्यते। ॐ इति नाम वा प्रतिमा वा ब्रह्मणः। इदानीमन्तकाले योगी स्मरणं करोति। क्रतो स्मर! योऽग्निर्ब्रह्मचर्यादारभ्य परिचरितः सः मनःश्वासरूपेणावस्थितः संबोध्यते। हे क्रतो! मां स्मर इदानीमुपस्थितः प्रत्युपकारस्य काल इत्यभिप्रायः। क्रतुर्वा यज्ञः संबोध्यते। क्रतो स्मर क्ल्बे स्मर क्लृप्ताय लोकाय स्मर। कृतं स्मर मया यत्कृतं तत्स्मर।।15।।

महीधर भाष्य– अथ कृतोपासनो योगी अन्तकाले प्रार्थयते। द्वे यजुषी। अथेदानीं परीष्यतो मम वायुः प्राणः। वायुग्रहणं सप्तदशात्मक-लिङ्गोपलक्षणार्थम्। सप्तदशात्मकलिङ्गरूपः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वा-धिदैवतरूपं सर्वात्मकममृतं सूत्रात्मानमनिलं वायुं प्रतिपाद्यतामिति वाक्यशेषः। 'वायुर्वाव गौतम सूत्रं वायुना गौतम सूत्रेणेदं संदृब्धम्' (बृह० माध्य० ३।५।६) इति श्रुतेः ज्ञानकर्मसंस्कृतं लिङ्गमुत्क्रामत्वित्यर्थः। अथ इदं स्थूलं शरीरमग्नौ हुतं सत् भस्मान्तं भस्मरूपं भूयात्। भस्मान्तः स्वरूपं यस्य तत्कृतप्रयोजनत्वात्। अथ योगिनोऽवलम्बभूतमक्षरमुच्यते। ओमिति ब्रह्मणः प्रतिमा नाम वा।

अस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्रीच्छन्दः परमात्मा देवता वेदारम्भे होमे शान्तिपुष्टिकर्मसु काम्येषु नैमित्तिकेष्वपि कर्मसु विनियोगः। ॐ प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे ओम्, हे क्रतो, सङ्कल्पात्मक, स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्यायं कालः प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। यस्त्वं ब्रह्मचर्ये गार्हपत्ये च मया परिचरितस्तत् स्मर। क्लिबे स्मर कल्प्यते भोगायेति क्लृप् लोकः तस्मै स्मर। जशादेश आर्षः 'छन्दस्युभयथा' इति पदान्तत्वात्। मयास्मै अयं लोको दातव्यस्तस्मै क्लृप्ताय लोकाय स्मर । कृतं स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। स्मरेत्यस्यावृत्तिरादरार्था। 'क्रतो इत्यादि त्रिभिर्यजुर्भिरन्ते यज्ञान् योगी स्मारयति' (अनु० ४।६) इति कात्यायनः।।15।।

(16) **उवट भाष्य–** अग्ने नय । हे अग्ने, नय सुपथा देवयानेव मार्गेण राये मुक्तिलक्षणाय धनायास्मान् विश्वानि सर्वाणि। देव दानादि-गुणयुक्त, वयुनानि प्रज्ञानानि विद्वाञ्जानानः युयोधिपृथक्कुरु च अस्मत् अस्मत्तः जुहुराणं प्रतिबन्धकमेनः पापम्। यतो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम बहुतरां तव नमस्कारोक्तिं कुर्मः। व्याख्यातायाः पुनर्वचनं विशेषा-र्थम्।।16।।

महीधर भाष्य– पुनरन्येन मन्त्रेणाग्न्याख्यं ब्रह्मप्रति योगी मार्गं चायते अगस्त्यदृष्टाग्नेयी त्रिष्टुप् (अ० ५। क० ३६)। व्याख्यातापि विशेषाय पुनर्व्याख्यायते। हे देव दानादिगुणयुक्त हे अग्ने, अस्मान् सुपथा शोभनेन मार्गेण देवयानेन नय। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। गतागतलक्षणेन दक्षिणमार्गेण निर्विष्टोऽहम् अतोऽग्ने, त्वां चाये पुन-

गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथास्मान्कर्मफलविशिष्टान्नय। किमर्थम्। राये धनाय मुक्तिलक्षणाय। कर्मफलभोगायेत्यर्थः। किंविधस्त्वम्। विश्वानि सर्वाणि वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन्। किंच जुहुराणं।

'हुर्च्छा कौटिल्ये' शानचि जुहोत्यादित्वेन रूपम्। कुटिलं प्रतिबन्धकं वञ्चनात्मकमेनः पापमस्मत् अस्मत्तः सकाशात् युयोधि पृथक्कुरु वियोजय। नाशयेत्यर्थः। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' ह्वादित्वाश्छब्दलोपद्वित्वे छान्दसं हेर्धित्वम् । ततो विशुद्धा वयं ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम कुर्याम। इदानीं सपापत्वात्तव परिचर्यां कर्तुं न शक्नुमस्ततस्त्वया पापनाशे कृते शुद्धा वयं नमस्कारेण त्वां परिचरेमेत्यर्थः।।16।।

(17) **उवट भाष्य–** इदानीमादित्योपासनमाह। हिरण्मयेन। यद्यपि हिरण्मयरूपेण पात्रेण येन रौप्यमयेन पात्रेण। पिबन्त्यस्मिन्निवस्थितान् रसान् रश्मय इति पात्रं मण्डलं तेन पात्रेण मण्डलेन सत्यस्याविनाशिनः पुरुषस्य अपिहितमन्तर्हितम्। मुखं शरीरम्। तथापि यः असौ आदित्यः पुरुषः योगिभिरुपलक्ष्यते। सः असौ अहम् अस्मि। एतां चोपासनां कुर्यात्।।१७।।

ॐ खं ब्रह्म। ओमिति नामनिर्देशः। आकाशस्वरूपं ब्रह्म ध्यायेत् आत्मत्वेन। नन्वचेतन आकाशः चेतन आत्मा। तद्यथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति तत्रानन्दप्रतिपादकं वाक्यम्। 'स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति' इत्युपक्रम्य अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्म लोक आनन्दः' इति। तथा सर्वनियन्तृत्वं दर्शयति 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी' त्युपक्रम्य 'द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इत्यादि। तथा सर्वज्ञत्वं दर्शयति।

'यद्वा एतमक्षरं गार्गि अष्टं द्रष्टृ' इत्यादि। तथा सत्यसङ्कल्पादयोऽस्य गुणाः श्रूयन्ते 'सत्यसङ्कल्पः सत्यधृष्टि' रित्यादि। यद्येवं तर्हि एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्मिन्वा आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ओतप्रोतसामान्यात् आकाशेनैवैतद्रूपं ब्रह्माभिहितं स्यादिति। अयमेव च ब्रह्माभिहितं स्यादिति अयमेव च ब्रह्मवित्सिद्धान्तः।।17।।

इति उवटकृतौ मन्त्रभाष्ये चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः।।

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ।।१।।

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटोऽवसन् ।
मन्त्राणां कृतवान्भाष्यं महीं भोजे प्रशासति।।२।।

महीधर भाष्य– पुनरादित्योपासनमाह। उष्णिक् यजुर्द्वयानता 'उष्णिक् त्रिपादान्त्यो द्वादशक' इति वचनात्। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयं यत् पात्रम् पिबन्ति यत्र स्थिता रश्मयो रसानिति पात्रं मण्डलम् तेन तेजोरूपेण मण्डलेन सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्याविनाशिनः पुरुषस्य मुखं शरीरमपिहितमाच्छादितं वर्तते। तथापि यः असौ प्रत्यक्षः आदित्ये रविमण्डले पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णमनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति वा पुरुष : पुरिशयनाद्वा स मण्डलस्थः पुरुषः असौ प्रत्यक्षः कार्यकारणसंघातप्रविष्टोऽहमस्मि।

एतां चोपासनां कुर्यादित्यर्थः। ओम् खं ब्रह्मेति यजुषी। ओ३मिति नामनिर्देशो ब्रह्मणः खं ब्रह्मेत्याकाशरूपमन्ते ब्रह्म ध्यायेत् (अनु. ४/६)। नभोवद्व्यापकं यद्यपि ब्रह्म चेतनमाकाशस्त्वचेतनस्तथाप्येकदेशे सादृश्यम्। नभोवद्व्यापकं ब्रह्म ओमिति जपन्ध्यायेदित्यर्थः। सूर्यमण्डलस्थः पुरुषोऽहमेवेत्यभेदेन चिन्तयेत्।।17।।

अथ विचारः। विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र विद्याशब्देन किं मुख्या परमात्मविद्योच्यते उतोपासना वा। अमृतमश्नुत इत्यत्र अमृतशब्देन साक्षान्मुक्तिरुत्तरमार्गेण परमपरया वा। नाद्यः। विद्याकर्मणोर्यस्तद्वेदोभयं सहेति समुच्चयानुपपत्तेस्तयोर्विरोधात् विद्योत्पत्तौ तदा श्रयेऽविद्यानुत्पत्तेः। वह्निरुष्णः प्रकाशश्चेति ज्ञानोत्पत्तौ शीतोऽग्निरप्रकाशश्चेति अविद्योत्पत्तिर्न सम्भवति नापि संशयोऽज्ञानं वा 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र 'को मोहः कः शोकः' इत्युक्तत्वात् किंच विद्याशब्देन परमात्म–विद्याग्रहणे अग्ने नयेति सुपथयाचनमनुपपन्नम्। तस्माद्विद्योपासना अमृतं चापेक्षितमिति दिक्।।

।। श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
व्यरमच्चरमोऽध्यायः परमात्मनिरूपकः।।

•••

परिशिष्ट–2

मन्त्रानुक्रमणिका

क्र.सं.	मन्त्र सङ्केत	मन्त्र संख्या
1.	अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्	18
2.	अनेजदेकं मनसो जवीयो	4
3.	अन्धं तमः प्रविशन्ति	9
4.	अन्धं तमः प्रविशन्ति	12
5.	अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया	10
6.	अन्यदेवाहुस्सम्भवात्	13
7.	असुर्या नाम ते लोका	3
8.	ईशावास्यमिदं सर्वं यत्	1
9.	कुर्वन्नेवेह कर्माणि	2
10.	तदेजति तद्‌ नैजति	5
11.	पूषन्नकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह	16
12.	यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येव	6
13.	यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्	7
14.	वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं	17
15.	विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं	11
16.	स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं	8
17.	सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्	14
18.	हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं	15

•••

परिशिष्ट–3

शाङ्करभाष्य में प्रयुक्त उद्धरण–

'अन्धं तमः प्रविशन्ति'[1], 'अन्धं तमः'[2], 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'[3] 'असुर्या नाम ते',[4] 'ईशावास्यमिदं सर्वम्. . . मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'[5], 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्',[6] 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'[7] 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वम–नुपश्यतः'[8], 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'[9], 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा असम्भूत्यामृतमश्नुते',[10] 'स पर्यगात्'[11], 'हिरण्मयेन'[12],

'कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः'[13] 'कर्मणा पितृलोकः'[14], 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः'[15], 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स

---

1. ईशावास्योपनिषद्– ६ ।
2. ईशावास्योपनिषद्– ६ ।
3. ईशावास्योपनिषद्– ११ ।
4. ईशावास्योपनिषद्– ३ ।
5. ईशावास्योपनिषद्– १ ।
6. ईशावास्योपनिषद्– २ ।
7. ईशावास्योपनिषद्– ७ ।
8. ईशावास्योपनिषद्– ७ ।
9. ईशावास्योपनिषद्– १ ।
10. ईशावास्योपनिषद्– १४ ।
11. ईशावास्योपनिषद्– ८ ।
12. ईशावास्योपनिषद्– १५ ।
13. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ५ । १६ ।
14. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ५ । १६ ।
15. बृहदारण्यकोपनिषद्– ४ । ४ । २२ ।

पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः'[1], आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'[2], 'प्रज्ञानघन एव',[3] 'मन एवास्यात्मा वाग्जाया',[4] 'विद्यया देवलोकः',[5] 'विद्यया देवलोकः',[6] 'सोऽकामयत जाया मे स्यात्',[7] 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्',[8] इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च' (?) 'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषितः',[9] 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियात् इति पदं ततो न पुनरेयात्' (?), 'न्यास एवात्यरेचयत्'।[10]

1. बृहदारण्यकोपनिषद्– ५ । ५ । २ ।
2. बृहदारण्यकोपनिषद्– ३ । ७ । २३ ।
3. बृहदारण्यकोपनिषद्– ४ । ५ । १३ ।
4. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ४ । १७ ।
5. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ५ । १६ ।
6. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ५ । १६ ।
7. बृहदारण्यकोपनिषद्– १ । ४ । १७ ।
8. श्वेताश्वतरोपनिषद्– ६ । २१ ।
9. महाभारत– २४१ । ६ ।
10. तैत्तिरीय आरण्यक– ७८ ।

परिशिष्ट–4

(क) काण्व शाखीया ईशावास्योपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।१।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।
अनेजदेकमनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्।
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।९।।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१०।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।११।।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।१२।।
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।।१४।।
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।
पूषन्! एकर्षे! यमः सूर्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन्!
समूह यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ये पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।१७।।
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहूराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।१८।।

।।इति शुक्लयजुर्वेदीया काण्वशाखीया ईशावास्योपनिषद।।

●●●

(ख) माध्यन्दिन शाखीया ईशावास्योपनिषद्

ॐ ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।१।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेऽतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।
असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।
अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।६।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः।।९।।
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१०।।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।११।।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।१२।।
अन्यदेवाहुर्विद्यायाः अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयँ स्वाहा।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।१४।।
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर।।१५।।
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्माज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।१६।।
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।।
ॐ खं ब्रह्म।।१७।।

।। इति शुक्लयजुर्वेदीया माध्यन्दिनशाखीया ईशावास्योपनिषद्।।

•••

डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा लिखी हमारे प्रकाशन की पुस्तकें

1. **तर्कभाषा**, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—562
2. **अर्थसंग्रह**, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—379
3. **योगसूत्रम्**, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—512
4. **नाटककार कालिदास**, कालिदासत्रय का प्रतिपादक ग्रन्थ पृष्ठ—625
5. **प्रतिमा नाटकम्**, विस्तृत भूमिका, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—453
6. **रत्नावली नाटिका**, विस्तृत भूमिका, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—487
7. **मुद्राराक्षस नाटकम्**, विस्तृत भूमिका, अनुवाद,'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—589
8. **पञ्चस्वराः**, विस्तृत भूमिका डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—332
9. **चाणक्य—नीति**, विस्तृत भूमिका, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—530
10. **भुवन—दीपक**, विस्तृत भूमिका, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—332
11. **वृत्तरत्नाकर**, विस्तृत भूमिका, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—343
12. **मनुष्यालय—चन्द्रिका**, विस्तृत भूमिका, 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—357
13. **संस्कृत—अन्त्याक्षरी चन्द्रिका**, 500 से अधिक श्रेष्ठ श्लोकसंग्रह, पृष्ठ—121
14. **शांखायन ब्राह्मण** (दो खण्डों में), विस्तृत भूमिका, हिन्दीअनुवाद पृष्ठ—713
15. **पाणिनीय—शिक्षा**, विस्तृत भूमिका, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' पृष्ठ—138
16. **सांख्य—दर्शनम्**,भूमिका सांख्य—ग्रन्थों पर आधारित संदर्भग्रन्थ, पृष्ठ—288
17. **कठोपनिषद्** (सम्पूर्ण), भूमिका, शांकरभाष्य सहित 'चन्द्रिका' पृष्ठ—316
18. **मार्कण्डेय महापुराणम्**, विस्तृत भूमिका, हिन्दी—अनुवाद, पृष्ठ—872
19. **काव्यप्रकाश** (दो खण्डों में), डायग्रामिक 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—1304
20. **काव्यदीपिका** (सम्पूर्ण)विस्तृत भूमिका, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' पृष्ठ—448
21. **कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्** विस्तृत भूमिका, हिन्दी—अनुवाद, पृष्ठ—208
22. **ऐतरेय उपनिषद्** भूमिका, शांकर—भाष्य सहित 'चन्द्रिका' पृष्ठ—200
23. **आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, 'चन्द्रिका' पृष्ठ—984
24. **वासवदत्ता** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, 'चन्द्रिका' व्याख्या, पृष्ठ—504
25. **कादम्बरी कथामुखम्** विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, 'चन्द्रिका' पृष्ठ—584
26. **दर्शनशास्त्र का अंतरङ्ग इतिहास**, नौ दर्शनों का सरल परिचय पृष्ठ—672
27. **शतकचतुष्टयम् भर्तृहरि** विस्तृत भूमिका, मूल अन्वय अनुवाद पृष्ठ—360
28. **मेघदूतम्**, विस्तृत भूमिका,अन्वय, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—464
29. **वेणीसंहार** विस्तृत भूमिका,अन्वय, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—536
30. **उत्तररामचरितम् (अंक 3)** भूमिका, अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ—184

33. **उत्तररामचरितम्** (सम्पूण) भूमिका, अनुवाद, 'चन्द्रिका' पृष्ठ– 616
34. **ऋतुसंहारम्** विस्तृत भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ– 336
35. **संस्कृत कथा मालिका** 31 संस्कृत कथाएँ हिन्दी अनु.सहित पृष्ठ–200
36. **मालविकाग्निमित्रम्** अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या अनु.सहित पृष्ठ–440
37. **विक्रमोर्वशीयम्** विस्तृत भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–496
38. **शुकनासोपदेशः** विस्तृत भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–120
39. **किरातार्जुनीयम्** (प्रथम सर्ग) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–128
40. **कालिदास नाट्यग्रन्थावली** विस्तृत भूमिका सहित मूल, पृष्ठ– 745
41. **कुमारसम्भवम्** (पञ्चम सर्ग) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–248
42. **रसगङ्गाधर** (प्रथम आनन) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–720
43. **वक्रोक्तिजीवितम्** (प्रथम उन्मेष) भूमिका अनु.'चन्द्रिका'व्याख्या पृष्ठ–392
44. **बुद्धचरितम्** (प्रथम सर्ग) भूमिका अनुवाद, 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–168
45. **अर्थशास्त्र** (पञ्चम अधिकरण) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–288
46. **मनुस्मृति** (1,2,7 अध्याय) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–576
47. **नलचम्पू** (प्रथम उच्छ्वास) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–248
48. **ज्योतिष–दिग्दर्शिका**, विस्तृत भूमिका, डायग्रामिक 'चन्द्रिका' पृष्ठ–312
49. **हर्षचरितम्** (पञ्चम उच्छ्वास) भूमिका, अनु. 'चन्द्रिका' व्याख्या पृष्ठ–312
50. **दशरूपकम्** भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' व्याख्या, परिशिष्टादि पृष्ठ–776
51. **रघुवंशम्**(13, 14)सर्ग भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका' परिशिष्टादि पृष्ठ–344
52. **ऋक्सूक्तकलिका**(भाग–1) भूमिका,अनुवाद'चन्द्रिका'परिशिष्टादि पृष्ठ–410
53. **ऋक्सूक्तकलिका** (भाग–2) मूल मन्त्र, अनुवाद 'चन्द्रिका' आदि पृष्ठ–334
54. **वेदवेदाङ्गकलिका** (भाग–3)मूल मन्त्र, अनुवाद 'चन्द्रिका' आदि पृष्ठ–352
55. **ध्वन्यालोक**(प्रथम उद्योत) भूमिका, अनुवाद 'चन्द्रिका', परिशिष्ट पृष्ठ–240
56. **बृहद्देवता** (प्रथ न्द्रिका', परिशिष्ट पृष्ठ–160
57. **मुण्डकोपनिषद** का', परिशिष्ट पृष्ठ–280
58. **याज्ञवल्क्य स्मृ** ुवाद 'चन्द्रिकादि पृष्ठ–384
59. **श्वेताश्वतरोपनि**
न्द्रिका', परिशिष्ट पृष्ठ–440
60. **ईशावास्योपनिषद्** भूमिका, मूल, अनुवाद 'चन्द्रिका', परिशिष्ट पृष्ठ–144

...